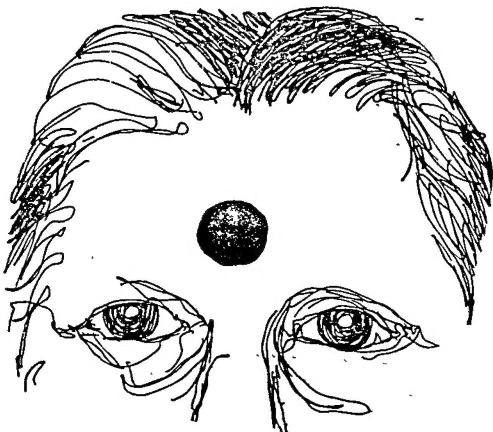


केदारनाथ अग्रवाल



प्रकाशक
परिमल प्रकाशन
१७ एम० आई० जी०
बाघम्बरी आवास योजना
अल्लापुर, इलाहाबाद-२११००६



मुद्रक
भार्गव मुद्रण केन्द्र
इलाहाबाद-२११००३



आवरण एवं सज्जाकार
इम्पैक्ट, इलाहाबाद-२११००१



मूल्य
अड़तीस रुपये



प्रथम संस्करण
१९८४ ईसवी



परिमल प्रकाशन
१७, एम आई जी. बाघम्बरी आवास योजना, अल्लापुर
इलाहाबाद २११००६ फोन · ५२७७१

कैफ़ियत के बाद

'जमुन जल तुम' एक विशेष योजना के तहत प्रगतिशील कविता के मानदण्ड श्री केदारनाथ अग्रवाल जी की अब तक की पुस्तकाकार अप्रकाशित पुरानी कविताओं का दूसरा संकलन है, जिनका विषय प्रेम है। वैसे तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं में इनमें से कुछ प्रकाशित हो चुकी है। इस प्रकार का पहला संकलन व्यंग्य और राजनीतिक संस्पर्श की कविताओ का 'कहें केदार खरी खरी' है जो १६८३ ई० में प्रकाशित हुआ है। केदार जी प्रारम्भ मे बालेन्दु, बी० ए० के नाम से लिखते थे, इसलिए कुछ कविताओं में 'बालेन्दु' की छाप भी मिलेगी।

'कहें केदार खरी खरी' में 'कैफ़ियत' शीर्षक से उन सारी बातों का खुलासा दिया जा चुका है कि इस प्रकार की कविताओ के संकलन और प्रकाशन की योजना क्यों और कैसे बनी। उसे यहाँ दुहराने की जरूरत नही है। लेकिन एक बात साफ कर देना जरूरी है कि योजना के प्रारम्भ मे इस तरह का इरादा नही था कि अलग-अलग विषय वस्तु के आधार पर कविताओं का संकलन किया जायगा। उस समय तो यही विचार था कि बिना विषय वस्तु की परवाह किये हुए सारी कविताएँ काल-क्रम से संकलित की जायँगी, लेकिन आगे चल कर ऐसा नही हो सका। 'कहें केदार खरी खरी' में राजनीतिक संस्पर्श की व्यंग्य कविताएँ ही क्यो संकलित की गयी, इसका कारण भी 'कैफ़ियत' मे बता दिया गया है।

कुछ-कुछ उसी प्रकार का कारण केदार जी की इन प्रेम-कविताओं के एक साथ संकलन का भी है। उनकी अब तक की अप्रकाशित पुरानी कविताओं के संकलन-प्रकाशन-योजना की 'कैफियत' देने के बाद अब सिर्फ़ इतना बताना जरूरी समझ रहा हूँ कि आखिर इस संकलन में उनकी प्रेम-कविताएँ ही क्यो संकलित की गयीं।

प्रेम मानवीय जीवन की एक अनिवार्य मूल प्रवृत्ति है। अगर प्रेम का

संबन्ध हम मांसलता से जोड़ने का दुस्साहस करें और जो निश्चय ही मांसलता से उपजता है, तो प्रेम रोटी की भूख की तरह एक भूख भी है, जिसकी तृप्ति अनिवार्य है अन्यथा जीवन में असंतुलन अपरिहार्य है। यहीं यह भी स्पष्ट कर दूं कि यहां मैं जिस प्रेम की बात कर रहा हूँ, 'वह काम मंगल से मंडित श्रेय' है और प्रेय तो वह है ही।

प्रेम को केवल हृदय से जोड़ कर देखना उसे शुद्ध भावना का व्यापार बताना, छल करना है। लेकिन इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि प्रेम का सम्बन्ध केवल मांसलता से ही है। परन्तु, प्रेम का सम्बन्ध मांसलता से भी है, इसमें भी शंका की गुंजाइश नहीं है। आदि कवि वाल्मीकि से ले कर कविता में प्रेम की घोर शृंगारिक अभिव्यक्ति के बावजूद, वासना से रहित मानी जाने वाली सूर की कविता तथा मर्यादित प्रेम की प्रतीक तुलसी की कविता तक में, प्रेम का उद्गम स्रोत रूपाकर्षण ही रहा है।

तुलसी की कविता मे भक्ति-रस की जो पावन घनीभूत सांद्र धारा हमें आप्लावित करती है उसकी गहराई, एकनिष्ठता और विस्तार का मानदण्ड ही अनुभूति प्रवण वासनासिक्त प्रेम और रोटी की वह उत्कट भूख ही है, जो चने के चार दानो को ही चारों फल—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—मानने को मजबूर करती है और भक्ति जैसे सात्विक और पवित्र भाव के लिए, काम-दाम अनुभव-दृष्टि की परिधि बन जाती है—

कामिहि नारि पियारि जिमि, लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतरहि, प्रिय लागहु मोहि राम।

भक्ति की साधना मे बाधक इन दोनो प्रभावशाली तत्वो में, ऐसा कौन सा आकर्षण है कि तुलसी, जब भक्ति जैसे पावन भाव के लिए उपमान खोजने बैठते है, तो उन्हें कुछ सूझता ही नही है और बार-बार उनकी चेतना-दृष्टि काम और दाम पर ही जा कर अटक जाती है। काम और दाम की यह आंख-मिचौनी तुलसी भक्ति के साथ क्यों खेलते हैं? इसके लिए कोई सात्विक उपमान क्यो नही लाते? यह सवाल अपना उत्तर अपने आप है। इसे किसी दूसरे उत्तर की जरूरत नही है, क्योंकि इतना बड़ा कवि जब, इन्हें भक्ति से जोड़ता है, तो अनायास नहीं; इनकी सार्वभौमिक शक्ति और महत्ता की अनिवार्यता ही वह कारण है, जो तुलसी जैसे लोक-कवि को निरन्तर हॉन्ट करती है।

प्रेम में, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष, रूपाकर्षण की प्रमुख भूमिका रहती है। राम

और सीता परस्पर आकर्षित होते हैं, उनके हृदय मे एक दूसरे के प्रति प्रेम का उदय होता है, तो एक दूसरे के रूप के प्रति आकर्षित होने के बाद ही। राधा कृष्ण की ओर और कृष्ण राधा की ओर आकर्षित होते हैं, तो वे भी रूप-लिप्सा के वशीभूत होकर ही। मीरा भी कृष्ण के सौंदर्य पर ही अनुरक्त होती है। कहने का तात्पर्य यह कि प्रेम के साथ रूप का अटूट सम्बन्ध है। यह एक वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक तथ्य भी है तथा सत्य भी।

लेकिन मार्क्सवाद के वैज्ञानिक दर्शन के मानने वाले हम सब मे से, जब कुछ तथाकथित छद्म और नासमझ लोग प्रगतिशीलता का एक ऐसा अवैज्ञानिक दायरा बना कर चलते हैं, जिसमें प्रेम के वैज्ञानिक रूप और बायोलॉजिकल नीड जैसी भूख के प्रवेश को निषिद्ध माना जाता है, तो उनकी समझ पर कुछ अटपटा सा प्रश्न चिह्न खड़ा होना स्वाभाविक है। क्योंकि शायद उन्हें भी यह जानकारी होगी कि मार्क्स, लेनिन, एंजिल्स और चे ग्वारा ने भी कविताएं लिखी हैं और प्रेम कविताएं लिखी हैं। वैसे भी जिस मजदूर और शोषित जन की पक्षधरता के ज्वार मे कुछ नौसिखिये प्रगतिशील प्रेम और सौन्दर्य की उपेक्षा करते प्रतीत होते हैं, उन्हें यह भी पता होना चाहिए कि शोषित और मजदूर भी प्रेम करता है, उसकी जिन्दगी में भी गाहे-बगाहे कोमल भावनाओं के संवेदनशील क्षण आते है, जब वह अपनी पत्नी-प्रिया के प्रति अतिरिक्त सौन्दर्य-सिक्त हो उठता है। क्या उसके जीवन के रेगिस्तान में नखलिस्तान की तरह खूबसूरत और एक जीवन्त वास्तविकता की तरह इनका चित्रण करना हम प्रगतिशील रचनाकारों का अनिवार्य धर्म नही होना चाहिए ?

प्रगतिशील होने का मतलब यह तो नही है कि हम जिन्दगी की असलियत से दूर, केवल राजनीतिक नारेबाजी और शोषण तथा अन्याय का विरोध करने वाली कविताएँ ही लिखें—मजदूरों और शोषितों पर ही कविताएँ लिखें। अपनी पत्नी, बच्चों, माँ, बहन, भाई, मित्र आस पास की प्रकृति पर कविताएँ न लिखें, उनके सौंदर्य के प्रति आँख मूंद लें; और जो लोग इस एकांगी धारा के विरुद्ध जीवन को संपूर्णता के साथ चित्रित करने के उद्देश्य से प्रेम और सौदर्य की कविताएँ भी लिखें, उनके बारे में यह कहा जाय कि 'अपनी सक्रिय भूमिका के प्रति उनका विश्वास घटने लगा है।' ऐसा कहने वालों और ऐसा सोचने वालों को अपनी सोच को पुनर्संशोधित करने की जरूरत है।

कविता मे प्रेम को निषिद्ध मानने वाले लोग बिना सुरा-सुन्दरी के शामें नहीं काट पाते और जो ऐसा नही करता, उसे प्रगतिशील नहीं मानते हैं। इसी तरह आज पत्नी को छोड कर परकीया प्रेम-प्रबीण होने, मजदूरों और शोषितों के नाम पर चन्दा वसूलने, मंच पर उनके शोषण और दमन का कोरस गाने तथा कमरे में या कोठे पर बैठ कर उसी चन्दे से सुरा-सुन्दरी के साथ ग़म गलत करने की प्रवृत्ति भी चल पड़ी है।

कुछ लोगों को अगर केदार जी की प्रेम और घर तथा पास-पड़ोस की सौंदर्य पूरित जिंदगी और प्रकृति का अहसास दिलाने वाली कविताएँ 'सक्रिय भूमिका के प्रति विश्वास घटने वाली कविताएँ लगें, पहले की तुलना में पिछड़ी हुई' कविताएँ लगें, तो कोई आश्चर्य नही होना चाहिए। सौंदर्य चाहे मन का हो, चाहे बाह्य प्रकृति का, जिन्हें दिखाई ही नही पड़ता, उन्हें तो यह सब नागवार लगेगा ही। लेकिन अगर उन्होंने विश्वव्यापी प्रगतिशील साहित्य पढा होगा, तो उन्हे यह पता होगा कि उसमें प्रेम का गहरा संस्पर्श पूरी ऊष्मा और निष्ठा के साथ अवश्य मिलता है। उसमें केवल शोषण, अन्याय, अत्याचार दमन और उसका विरोध ही नहीं होता, जब कि हमारे यहाँ के प्रगतिशील साहित्य में प्रेम जैसी उत्कट और शक्ति प्रदान करने वाली भावना को अप्रगतिशील और बुर्जुआ प्रवृत्ति मान कर उसे परहेज के स्तर तक त्याज्य मानते है। इसी का परिणाम यह है कि कुछ दिन तक चर्चा और सुर्खियो मे रहने के बाद ऐसी लँगड़ी कृतियाँ यादों के तहखाने मे दफ़न हो जाती है।

केदार जी, जो 'संज्ञान की कलात्मक अभिव्यक्ति' को कविता मानते है, इस लँगड़ेपन को बखूबी पहचानते हैं। इसीलिए, अपने साहित्य को सर्वांग, सुन्दर और संपूर्ण स्वस्थ रूप में प्रस्तुत करते है और यह घोषित करने मे तनिक भी संकोच नही करते कि—

मैं नारी का प्रेमी
मेरी प्रीति अपावन
भाव राशि सब गंधी
मेरे गीत अपावन—

और यह सलाह देने मे भी नही कि—

मेरे गीतो को तब पढना
बार-बार पढ़ कर फिर रटना

सीखो जब तुम प्रेम समझना
प्रेम पिए बस पागल रहना ॥

साथ ही इन गीतों के रचने की प्रेरणा और स्फूर्ति का रहस्य उद्घाटित करने मे भी नही कि—

उसके अंगों के छूने की
अब विद्युत दौड़ेगी इनमें
उसके ओठों के चुम्बन की
अब मदिरा उतरेगी इनमें
उसने मेरी सेज सजायी
सेज सजाकर अंग मिलाया
ओठो को रस पान कराया

लेकिन, उनकी इस प्रेरणा और स्फूर्ति का रहस्य कोई और नही उनकी प्राण-प्रिया पत्नी ही है। उन्हे जैनेन्द्र जी की तरह रचना की प्रेरणा और रचनात्मक तनाव के लिए किसी प्रेयसी की जरूरत नही पड़ती। जैनेन्द्र जी की तरह उनका पत्नी प्रेम कभी बासी और ठण्डा नही होता, क्योकि जैनेन्द्र जी की तरह वह ब्याह मे युवती नही ले आए, वरन् साक्षात् प्रेम ही ब्याह कर ले आए थे—

मैंने प्रेम अचानक पाया
गया व्याह में युवती लाने
प्रेम ब्याह कर संग मे लाया।

यही कारण है कि उनका पत्नी-प्रेम नित-नूतन रूपों मे स्वस्थ मानसिकता की सृष्टि करता है और कुण्ठा, बीमारी और अनास्था के स्थान पर आस्था और स्वस्थता का जीवंत उदाहरण बना कर हमारे सामने उजागर होता है। उनमें पत्नी और प्रिया के प्रेम का द्वैध नही है। उनकी पत्नी ही उनकी प्रेयसी भी है।

केदार जी का प्रेम वायवीय प्रेम नही है। उनका प्रेम इसी धरती पर उपजने वाला, सुघड़ और स्वस्थ संवेदना के साथ प्रकृति से लेकर पत्नी और पुत्र-पुत्री, नाती-नातिन तक को अपने विशाल स्नेहाकाश से छाप लेने वाला प्रेम है। इसीलिए इस संकलन मे पत्नी-भाव की प्रेम कविताएँ तो संकलित है ही, साथ ही वत्सल प्रेम कविताएँ और प्रकृति के प्रति प्रणय-भाव से सराबोर प्रेम गीतों को भी पिरोया गया है; ताकि प्रेम का एक व्यापक संसार रूपायित हो सके।

केदार जी की प्रेम परक कविताएँ 'जमुन जल तुम' में पहली

बार नही प्रकाशित हो रही हैं। प्रकाशन क्रम में, सन् १६४७ में प्रकाशित, उनके दूसरे काव्य संग्रह 'नीद के बादल' मे संकलित लगभग सभी कविताएँ प्रेम के गहरे ताप से उष्ण कविताएँ है, जो कवि के विकास की पहली मंजिल हैं। यद्यपि कवि ने 'नीद के बादल' की भूमिका मे स्पष्ट रूप से घोषित किया है कि "नीद के बादल रात के जादू के बाद—दिन के लाल सबेरे के साथ ही ओझल हो जाते है। इस प्रकार मेरे नए सवेरे के साथ प्रेम की इस संग्रह की कविताओ की इति हो जाती है।"—लेकिन कवि की प्रेम-चेतना इस घोषणा के बंधन को स्वीकार नही कर पाती और आगे भी इस प्रकार की कविताएँ कवि से लिखाती रही है; जिसका प्रमाण 'जमुन जल तुम' में संकलित १६४७ के बाद की लिखी प्रेम-कविताएँ भी हैं।

हो सकता है 'कहे केदार खरी खरी' की कविताओ के संकलन की तरह कुछ लोग इस संकलन की कविताओं के चुनाव पर भी इस प्रकार का आरोप लगा सकते हैं कि इस संकलन में भी संकलनकर्त्ता ने संख्या बढ़ाने की दृष्टि से कम-जोर कविताओ के संकलन का मोह नही त्यागा है, तो कोई बहुत अधिक आश्चर्य करने की जरूरत नही है, क्योकि अगर बिना पढ़े हुए ही किसी पर कोई आरोप किसी को लगाना है, तो वह इसी तरह की अज्ञानता करेगा ही। अज्ञानता इसलिए कह रहा हूँ, क्योकि 'कैफ़ियत' में यह बात बहुत साफ और स्पष्ट रूप से बता दी गयी है कि इन कविताओ के संकलन और प्रकाशन का उद्देश्य कवि के पूरे विकास-क्रम को दिखाना है। ये संकलन 'चुनी हुई' कविताओं के संकलन नही हैं, अगर चुनाव किया गया है, तो महज इस दृष्टि से कि उनमे वस्तु की एकरूपता दिखायी पड़े और वे काल-क्रम में संयोजित हों। चुनाव में कमजोर और सशक्त की दृष्टि है ही नहीं। इसमे तमाम ऐसी कविताएँ भी हैं, जो अपने शिल्प मे अनगढ भी हैं तथा कुछ अधूरी भी हैं। कवि ने उन्हे यूँ ही छोड़ दिया था और फिर दुबारा उनकी ओर मुड़ कर देखा भी नहीं था। इसलिए अगर कोई इन संकलनो के प्रकाशन उद्देश्य को नजरअंदाज करता है, तो मुझे उस पर महज अफसोस ही हो सकता है। और ऐसा, जब हर चीज के विकास को उसके ऐतिहासिक विकास-क्रम में जाँचने-परखने वाले कहते हैं, तो और भी अफसोस होता है। इसके अलावा और किया भी क्या जा सकता है। खैर!

इन कविताओं का संग्रह करने के बाद, जब इनके बारे में केदार जी की खुद की प्रतिक्रिया जाननी चाही और पूछा कि 'क्या आप इन कविताओं के बारे मे कुछ कहना चाहेंगे, तो उनका पत्र आया कि 'हाँ, मुझे भी कुछ कहना

है।' मैं उनके पास पांडुलिपि लेकर गया, तो उन्होंने 'कुछ कहने' के संदर्भ में वे तमाम बातें कह दीं, जिनको लक्ष्य करके मैंने इस प्रकार की कविताओं का चयन किया है। और मुझे उससे बड़ा बल मिला कि मैंने जो सोच कर यह संकलन तैयार किया है, वह बेबुनियाद नहीं है, उस सोच का भी वजूद है। प्रगतिशील कविता की एक और सही सोच से परिचित कराने का संतोष मुझे मिल सकता है।

इन्हीं शब्दों के साथ यह संकलन काव्य-प्रेमियों के हाथों में सौंप रहा हूँ, इस विश्वास के साथ कि वे इसका स्वागत उसी प्रकार करेंगे जैसे पहले प्रेम का। कविगणों को इस उम्मीद के साथ कि वे इसे पढ़ेंगे और अपने घर में ही प्रेम का विशाल वृक्ष रोपेंगे और उसकी शीतल-ऊष्म छाया में खुद भी विश्राम करेंगे, थकान दूर करेंगे और दूसरों को भी उसका स्निग्ध ताप महसूस करायेंगे और पत्नी तथा प्रेमिका के वैमनस्य को दूर करेंगे।

इस संकलन के तैयार करने और इसके पूर्व केदार जी की पुरानी अप्रकाशित कविताओं के संकलन में आदरणीय अग्रज ओंकार शरद जी, भाई शैलेन्द्र चौहान (इलाहाबाद), भाई अश्विनीकुमार उपाध्याय, गीता भाभी, डॉ० सिद्धार्थ, प्रो० रामप्यारे राय, एहसान आवारा, आनंद सिन्हा, जयकान्त शर्मा, गोपाल गोयल, पं० जगतनारायण शास्त्री (बाँदा) तथा अजयतिवारी (दिल्ली) ने जो सहयोग दिया उसके लिए मैं इन सबका आभारी हूँ।

परिमल प्रकाशन के संचालक अग्रज शिवकुमार जी सहाय के प्रति आभार व्यक्त करना गुस्ताखी होगी क्योंकि मैंने जो भी किया है, उनके ही बल-बूते पर किया है। वह बराबर के ही नहीं बल्कि उससे अधिक के हकदार हैं। उनके प्रति आभार व्यक्त करना अपने प्रति ही आभार व्यक्त करना होगा।

१ अगस्त, १९८४
२२ लाउवर रोड, इलाहाबाद—२११००२

—अशोक त्रिपाठी

काव्य की रचना नर ही ज्यादातर करता आया है, नारियों ने कम ही काव्य की कृतियाँ रची है। वे शिक्षित नही थी, परिवार के पालन-पोषण में अपना जीवन खपा देती थी। मातृसत्तात्मक समाज में अवश्य ही नारियो का प्रमुख हस्तक्षेप रहा है, फिर भी उस समाज के नर ने नारी के सौंदर्य की जो कल्पना की थी, वह दुर्गा, काली आदि देवियों के रूप में प्रतिष्ठित हुई थी। इसके विपरीत पितृसत्तात्मक समाज में नर ही समाज का नियंता था और वही नारी को उसके विभिन्न रूपों में देखता और वैसे ही चित्रित करता था।

इसीलिए संसार को सभी भाषाओं के काव्यो में नर द्वारा निर्मित काव्य में नारी की देहयष्टि के अंग-प्रत्यंग का वर्णन मिलता है और यह भी मिलता है कि नर ने अपनी नारी को व्यापक और वृहत्तर भावभूमि पर पहुँचा कर उसे प्रकृति के रूप-बिम्बो से और भी मर्मस्पर्शी रूप में अभिव्यंजित किया। इसीलिए पर्वत और उरोज एक जैसे हुए, जंघाएँ कदली खंभ और सरिताओं की धाराएँ हुईं। अन्य अंग भी इसी प्रकार प्रकृति के रूपालंकरण पाते चले गये।

संघर्षशील आदमी घर से बाहर जीवन की लड़ाई लड़ता था और अनेकानेक विपत्तियों का सामना करता था और जब घर आता था, तब अपनी नारी के सान्निध्य में एक होकर अपनी थकान और अपने शैथिल्य को दूर करने के लिए नारी सौंदर्य से अपने को अभिषिक्त करता था तथा निश्छल और निष्कपट हृदयोद्गार से अपने प्रेम की आंतरिक अनुभूतियो को व्यक्त करता था। इसी प्रकार से काव्य में नारी का नानारूपेण चित्रण होता गया।

संस्कृत में, मैथिली में, बंगला मे, हिन्दी में, और विभिन्न प्रांतों की विभिन्न भाषाओ मे, बोलियों में, नारी का सौंदर्य ही प्रमुख रूप से प्रतिबिंबित हुआ है। काव्य मे इस परंपरा के सुन्दर आख्यान और गीत और पद बहुसंख्यक है। सभी उनसे परिचित हैं।

मेरे परिवार मे भी मेरे पिताश्री काव्य प्रेमी होने की वजह से आजीवन ऐसे काव्य से सम्पृक्त होते रहे और प्राचीन कवियो की रचनाएँ सराहते और गुनगुनाते रहे। उनके पास जयदेव, विद्यापति, कालिदास, पद्माकर, मतिराम, बिहारी, हरिऔध, रत्नाकर आदि कवियो के काव्य ग्रंथ भी थे। मैं लड़कपन मे उनको सुनता, तो मुझे यह स्वर-प्रवाह आकर्षित करता और मैं, न समझते हुए भी, उनसे प्रभावित होता रहा। जब कुछ हिन्दी का ज्ञान बढ़ा, तो मैंने उन ग्रंथो को छुप छुप कर पढना शुरू किया और

परिणाम यह हुआ कि मैं काव्य में प्रतिबिंबित नारी के सौंदर्य का रसज्ञ हो गया। उसी का परिणाम है कि मार्क्सवादी जीवन-दर्शन से प्रभावित होने के पहले मैं उसी प्रकार के सौंदर्य की स्वयं भी कविताएँ लिखने लगा।

इस संग्रह में अधिकांश कविताएँ उसी प्रवाह की मिलेंगी। भाषा भी अलंकृत हुई है। छंद भी उस सौंदर्य से आवेष्टित हुए हैं। अलावा इसके, एक कारण और भी था—मेरे इस प्रकार के सौंदर्य से अभिभूत होने का। मुझे खाते-पीते परिवार में जन्म मिला। पेट भरने के लिए संसार में संघर्ष नहीं करना पड़ा और वकील होने तक इससे निश्चित रहा। यदि जीवन-यापन की समस्या लड़कपन में ही पैदा हो गयी होती, तो संभव है मैं इस पारंपरिक काव्य-संसार से मोहाविष्ट होने पर भी उसे कुछ दिन के बाद छोड़ देता।

अब इस उमर (७३ वर्ष) में मेरी इन कविताओं का यह संकलन प्रकाशित हो रहा है। मैं अब बहुत दिनों से ऐसी कविताओं से अलग हो गया हूँ फिर भी मेरे काव्य-विकास के क्रम के आधारभूत तत्वों का सबके सामने प्रस्तुत किया जाना निहायत जरूरी है, ताकि काव्य-मर्मज्ञ यह देखें और परखें कि मैं बाद का प्रगतिशील कवि कैसे वैज्ञानिक जीवन-दर्शन अपना कर संघर्षशील हुआ और अपने को उस परम्परा से अलग कर, प्राकृतिक परिवेश से अपने काव्य का स्रोत खोज सका और अपने युग के सत्य को पकड़ सका तथा आदमियों के जीवन में यथार्थ की परिणतियों से विचलित हुआ और फिर अपने देशवासियों को, प्रगतिशील विचारों की—सत्य की पकड़ की, सार्थक और सजीव कविताएँ दे सका। आदमी होते हुए भी आदमी आदमी नहीं रह गया है। यह बात मुझे मथती रही है और मैं उसे भीतर-बाहर से इस मंथन से उबारने के लिए बराबर सोच पैदा करता रहा। इसी सोच का परिणाम मेरे बाद की दूसरे संकलनों की कविताएँ हैं।

मूलतः मैं पत्नी प्रेमी रहा हूँ और मेरी प्रेम की कविताएँ उन्हीं के प्रेम और सौंदर्य की कविताएँ है। कहीं-कहीं, कभी-कभी कुछ कविताएँ ऐसी झलक दे जाती हैं, जैसे कि मैं उनके अलावा भी दूसरी नारियों से घनिष्ट रूप से सम्बद्ध रहा हूँ। बात ऐसी नहीं है। जो मैं ऐसा लिख गया हूँ, वह केवल पारंपरिक काव्य-संस्कार का परिणाम है, जो घर की चहारदीवारी से बाहर पहुँच गया है।

कुछ कविताएँ ऐसी भी हैं कि जो दूसरी नारियों के सौंदर्य को व्यक्त

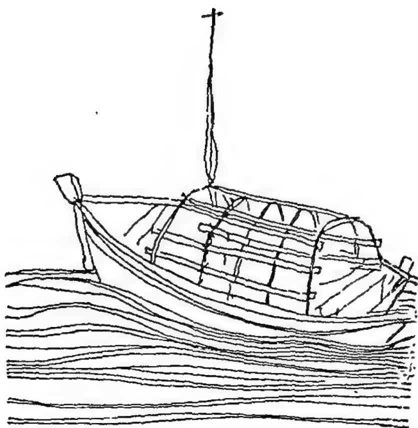
करती हैं। ऐसा करना मैंने संसार के किसी भी देश के काव्य में गुनाह माना जाता नहीं पाया है। पहले परकीया प्रेम का उदात्तीकरण कर दिया जाता था। राधा के प्रति कवियों का प्रेम-वर्णन इसी का उदाहरण है। कृष्ण के प्रति मीरा का प्रेम इसी प्रकार का है।

मैंने अपने प्रेम को इस प्रकार के परकीया प्रेम के उदात्तीकरण से अलग रख कर सरल सहज और खुले रूप में स्वकीया प्रेम को मानवीय प्रेम के रूप में प्रस्तुत किया है। मुझे बराबर यह महसूस होता रहा है कि मेरे ऐसा करने से कोई अपराध नहीं होगा, बल्कि जिसके प्रति मैं अपना प्रेम व्यक्त कर रहा हूँ, वह मुझसे घनिष्ट से घनिष्टतर होती हुई, पूर्ण रूपेण मेरी आत्मीय बन ही जायेगी।

आज, मेरे ऐसे प्रेम की कविताएँ हिन्दी-काव्य में मिलना दुश्वार हैं। अब तो नये-नये उभरते स्वर वाले कविगण भी परकीया आकर्षण से ही अभिभूत होते हैं और क्षणिक आवेश की रचनाएँ दे कर पारस्परिक चुहल-बाजी कर लेते हैं। ऐसी कविताएँ सामाजिक दायित्व से हीन कविताएँ होती हैं, और ऐसे कवि न घर में प्रेम को प्रतिष्ठित कर पाते हैं, न समाज में। मेरा ऐसा कहना बहुतों को बुरा लगेगा, लेकिन यह कटु और निर्मम सत्य है। मेरी प्रगतिशीलता में इसका कोई स्थान नहीं है।

इस संकलन के तैयार करने में पूरा योगदान आरंभ से अंत तक डॉ० अशोक त्रिपाठी का रहा है, वही इसे तैयार कर काट-छाँट कर सवक्तव्य मेरे प्रकाशक को दे सके हैं, मैं उनका हृदय से आभारी हूँ कि उन्होंने यह दायित्व श्रम और शक्ति से सम्पन्न किया है।

१५ अगस्त, १९८४ —केदारनाथ अग्रवाल
सिविल लाइन्स, बाँदा।



जमुन जल तुम

(१)

घर घर मैंने कहा पुकार—
खोलो द्वार ! खोलो द्वार !
सके न जब वे स्वर पहचान
तब बोले हो कर हैरान,
'तू तो है हमको अनजान
दें हम कैसे छाया-दान !'
हुआ न फिर भी मुझे विकार
खा कर हार।
घर घर मैने कहा पुकार—
खोलो द्वार ! खोलो द्वार !

(२)

भरे अधर-तट में मद-गान,
नयन-सीप में छवि-मणि-प्रान,
सुघर केश लहरों में तान
विमल नेह का जाल सुजान;
फिरी खोजती तन मन वार
प्रियतम द्वार।

घर घर मैंने कहा पुकार—
खोलो द्वार! खोलो द्वार!

(३)

सहसा निशि में अवसर जान
आया वह राजर्षि समान
शान भरी छेड़े मुसकान,
थी मैं चित्रित चकित महान;
स्वप्न-लोक के मुंदे किवार
मम मन मार;
फिर से मैंने कहा पुकार—
खोलो द्वार! खोलो द्वार!

२४ जनवरी, ३२

कर जोरि करै अव एती विनैं नहिं ध्यान मैं चूक हमारी जु लाइये;
हम ठाढ़े ठगे रहे पेखिबे कों पुनि का इत स्वागत साज सजाइये।
सब भाँति तिहारे वने हम तौ पद पावन आँकि हिये तट जाइये;
अवलोकि जिन्हैं निज नैनन सों तुवधाम को सूधें सदा चलि आइये।

१ मार्च, ३२

लालसा लोकि पै बैठि सदा वहि ओर को छोर निहारती हैं।
पार न पाइ सकै दुखियाँ, तब आकुल ह्वै घबरावती है।
मौन ह्वै बैठि सकै पुनि क्यों! उन्है देखन को कलपावती हैं।
आँसुन को धरि रूप अली अंखियाँ अब धूरि पै धावती है।

१ मार्च, ३२

कल्पलता सी सुघर सलोनी,
कामधेनु सी न्यारी है,
अमृत सी चिर जीवनदायिनि,
प्राणों से भी प्यारी है,
आहा, तुझको प्यार करूँ, बिटिया बहुत दुलार करूँ।

दुइज काल में पूरे शशि सी
मैंने तुझे निहारा है,
छवि पर तेरी मोहित हो कर
तन-मन आज बिसारा है;
आहा, तुझको प्यार करूँ, बिटिया बहुत दुलार करूँ।

नवल अंग नन्हा सा तेरा
तितली सा दिखलाता है,
पानी की मछली-सा चंचल
तव स्वभाव मनभाता है;
आहा, तुझको प्यार करूँ, बिटिया बहुत दुलार करूँ।

सोने से सपने के तरु पर
सुख की चिड़िया आती है;
तव पलकों के दल में छिप कर
साँझ समय सो जाती है।
आहा, तुझको प्यार करूँ, बिटिया बहुत दुलार करूँ।

फिर प्रभात से कुछ पहिले ही
आँखें खुलती जब तेरी,
फुदक फुदक कर सारे घर में
करने लगती वह फेरी;
आहा, तुझको प्यार करूँ, बिटिया बहुत दुलार करूँ।
प्रभु से मेरी यही विनय है—
विमल बने गंगा जल सी,
अमर बने तू राम नाम सी,
पुण्यमयी तुलसी दल सी,
आहा, तुझको प्यार करूँ, बिटिया बहुत दुलार करूँ।

७ मार्च, ३२

(१)

कोमल कुसुम से भी लाल है ललित अंग,
मोहन है रूप प्यारा, घर का उजाला है।
काले घुँघराले बाल लगते मनोहर है,
नैन है कमल जैसे, प्रेम का पियाला है।
गोल हैं गुलाबी गाल दत की छटा है न्यारी,
मंजुल गले मे हार मोतियों का डाला है;
सुकवि 'बालेन्दु' सुख शांति का निवास मजु
गोद का अमोल-लाल मृदु बोल वाला है।।

(२)

खुल कर खेलता है दिन भर आँगन मे
बोल बोल तोतले सदन भर देता है।
होकर मुदित मन करता है मनमानी
देख गुरुजन को तुरन्त हँस देता है।
सुकवि 'बालेन्दु' आता दौड़ कर गोद में है,
लगता है कंठ से अनन्त सुख देता है।
देखता है भाव भरे लोचन में रूप लिये,
पल मे पलक मार जादू कर देता है।।

३ अप्रैल, ३२

दूर होके मुझसे वे पाते हैं न चैन कभी,
ध्यान उन्हें प्रतिपल मेरा बना रहता।
होकर अकेले सुख मिलता मुझे भी नहीं,
आँखों में समाया उनका ही रूप रहता।
छाये रहते हैं घन आशा के उनके उर
मानस में मेरे भाव सिंधु है लहरता।
दोनों ओर लग तो गई है अब प्रेम आग,
देखें कौन बुझता है और कौन जलता॥

१७ जून, ३२ (बाँदा)

फूलो फूलो फूलो फूल !

पंखुरियों के पंखों पर तन,
तरु के कर के मंजु मुकुर बन,
रम्य रुपहले पूर्ण चंद्र बन,
रजत कटोरी, दुग्ध-धवल बन;

फूलो फूलो फूलो फूल !

गोले गोले इकटक लोचन—
भोले भोले बाल वदन बन,
कोमल-कोमल नवल-नवल बन,
विकसित, सुरभित, सरस, सरल, बन,
हरे-हरे-पत्तों से मिल कर,
तरु मानो जलधार बहा कर,
सट कर, गुथ कर, एक अंग कर,
तुम्हें बिछा लें निज निज उर पर;

फूलो फूलो फूलो फूल !

महके अनिल सुरभि से भर कर,
सागर-सरिता और सरोवर;
थल महके, महके वर-अम्बर,
दश-दिशि महके महर-महर कर;

आवें पागल - प्रेमी - मधुकर,
बरबस खिंच कर और पुलक कर,
बेबस बेसुध गुन-गुन स्वर कर,
गावें गीत प्रणय के मृदुतर;
फूलो फूलो फूलो फूल !

१५ सितम्बर, ३२

(१)

इतनी सुन्दर यह महफिल क्यो मालिन ! आज सजाई ?
चहल-पहल कैसी यह मालिन ! कैसी धूम मचाई ?
मधु-मिश्रित-स्वर में खग गन क्यों देते तुझे बधाई ?
उषा-उर्वसी के मुख पर क्यों सुख की लाली छाई ?

तेरी वगिया में यह कैसा
मालिन ! शुभ अवसर आया ?
तेरा मालिक, तेरा प्रेमी
क्या तुझसे मिलने आया ?

(२)

पौधे-पौधे में यह कैसी छाई है हरियाली ?
हँसमुख है कोई सूरत तो कोई है मतवाली !
सुषमा से सारे विटपों की शोभित डाली-डाली !
पत्ती-पत्ती पागल हो-हो गाती दे-दे ताली !

तेरी वगिया में यह कैसा
मालिन ! शुभ अवसर आया ?
तेरा मालिक, तेरा प्रेमी
क्या तुझसे मिलने आया ?

(३)

रंग-बिरंगे फूलों की यह क्या तसवीर बनाई ?
लख कर तेरी कुशल कला को, आँखों में छवि छाई !
गेंदा पीला फूल रहा है, जूही उज्ज्वल फूली ?
पाटलि, बेला फूल रहे है, गुलमेंहदी मद-भूली ?
तेरी बगिया में यह कैसा
मालिन ! शुभ अवसर आया ?
तेरा मालिक, तेरा प्रेमी
क्या तुझसे मिलने आया ?

(४)

इस सब का था यही प्रयोजन किसी तरह तू आये ;
सुन्दरता बगिया की देखे वशीभूत हो जाये !
'प्रेयसि !' कह कर मुझे पुकारे अपने हृदय लगाये ;
'प्रियतम !' कह कर तुझे पुकारूँ मैं भी हृदय लगाये !
मेरी बगिया मे ओ प्यारे !
पहला शुभ अवसर आया !
मेरे मालिक, मेरे प्रेमी
तू मुझसे मिलने आया !!

१६ सितम्बर, ३२

(१)

निशि आई, तू न मोहिनी आई !
संध्या की अनुराग रागिनी
सुख-सुहाग की अरुणाई,
पुष्करिणी के जल में झर झर
मुदे कमल में कुम्हलाई,
अकुलाई, वह पाताल समाई !
निशि आई, तू न मोहिनी आई !!

(२)

निशि आई, तू न मोहिनी आई !
चूम चूम कर तम की उंगली
आँख मही की धुँधलाई,
परिचित की आकृति भी उसको
निरी अपरिचित दिखलाई,
चकराई, वह अतिशय भरमाई !
निशि आई, तू न मोहिनी आई !!

(३)

निशि आई तू न मोहिनी आई !
केश सुगंधित, मद-अभिमंत्रित,
यौवन चर्चित, भर अंगड़ाई,
सुमनों के दोलांचल में चल
वायु विजन में लहराई,
इठलाई, कर अभिसार सिधाई !
निशि आई, तू न मोहिनी आई !!

(४)

निशि आई, तू न मोहिनी आई !
क्षण-क्षण आभा क्षीण हो रही,
प्राण-वर्ति, जल - अधियाई,
रुकता सा अब श्वास वेग है;
नेह अवधि अंतिम आई,
दुखदाई, लो वह - लौ सिहराई !
निशि आई, तू न मोहिनी आई !!

२८ नवम्बर, ३२

उड़ चल प्राण, उड़ चल प्राण !

प्रलय-पीड़ा का मन्त्र उचार,
समय-सफरी की चञ्चल चाल
बना तू मत अब विरही प्राण !
विषम रे निश्चल मेरु विशाल;
मन का तान पंख वितान।
उड़ चल प्राण, उड़ चल प्राण !

असित-सरसिज-संध्या-पथ चूम,
सदन में आया तेरे दूत,
अरुण-कण पद-नख में अवशेष;
रक्त-श्रम से मुख-कंज प्रसूत,
मौन शब्दावलि, तृष्णाहीन,
हृदय में सुख सावन की धार;
इसी से तो कहती सुकुमार !
बुला भेजा प्रिय ने उस पार।
शीघ्र महान प्रणय-विधान !
उड़ चल प्राण, उड़ चल प्राण !

६ जनवरी, ३३ (इलाहाबाद)

जाग जाग प्रेयसि मैं रोया !

पावस का पहने घन अंचल—

विपुल-वेदना का बरसा जल—

उफ़ ! मैंने रजनी-कमली का ताग-ताग प्रतिवार भिगोया;

जाग जाग प्रेयसि मैं रोया !

गूंगे प्रतिध्वनि-हीन पुलीन पर

गलित-दलित पतवार समझ कर,

हाय ! समय नाविक ने मुझको अन्धकार में यों ही खोया;

जाग जाग प्रेयसि मैं रोया !

निष्क्रिय रे जग लुंठित-असि सम !

उर मेरा गतिशील विकल तम !

भय है ! भय है ! मृत्यु मुझे दो, रहूँ मूर्छना मोहित सोया;

जाग जाग प्रेयसि मैं रोया !

२६ मार्च, ३३

मैं पागल हूँ, पिये हुए हूँ कविता का मद-प्याला,
अधरों पर मेरे झूमी है रस-कन की मधु-शाला;
फूला है शोणित सरिता में मस्ती का गुल्लाला;
उच्छ्वासों की घनीभूत हो छाई वारिद-माला;
रोम-रोम ने खोल दिया है परिमल-पुलक-खजाना,
कौन न जाने आ बैठा है आँखों में दीवाना ?
हुडक रहा है प्रिय-कपोत-मन प्रेमी-कंठ फुलाये;
बेहोशी उन्माद जाल है केशों में फैलाये,
शशि कहता है 'तुझे चूम लूँ, आ, मेरे मस्ताने !'
मै कहता हूँ, इधर देख तो, होगा पूर्ण बिगाने !
नभ सम्हालता आया प्रतिदिन तेरा रूप अधूरा,
रोज सम्हालेगा तब कैसे तुझको पूरा पूरा ?
'प्रिय ! गुदगुदी न और बढाओ', कहती वायु, 'विचारो,
लोट-पोट होने से देखो कलियाँ खिलीं हज़ारों;
कल से कौन सजायेगा फिर भूतल का घर प्यारा,
आज खिलेगा यदि कलियों का वन का वन यह सारा'
ठहर, नदी से मैं कहता हूँ, यों ही क्यों इतराई ?
अरी, सीख पहले तो लेना मेरी सी अँगड़ाई।
समझो नही अकेला मुझको, देखो यह परछाईं,
बरसों से लाखों की बस्ती मैंने यहीं बसाई।
सुन रक्खा है और कई ने पहले तुम्हें पिलाई,

पी लो अब निर्दोष हाथ से, कैसी आग लगाई ?
झूठे का हो बुरा, बुरा हो जिसने बात बनाई,
मैं कब कहता हूँ यह कविता मैंने तुम्हें सुनाई ?
होगा कोई पागल होगा, मेरा नाम लगाया;
किधर गया वह ? इधर गया क्या ? रुका न क्यों मैं आया ?
रोक लिया क्यों तुमने मुझको ? देख उसे तो लेता;
बतलाता फिर उसे कहीं जो वह दिखलाई देता।
अब हँसते हो, मुझे बुरा है लगता शोर मचाना;
कैसा था वह मुझे बताना तुमने तो पहचाना ?

१६ मई, ३३ (बाँदा)

कुञ्चित कुन्तल को सहलाती,
मँडराती आँखों में छाती;
तन की लहरी को दुलराती,
मोहित-सी मुझको कर जाती।
आती री यह वेणु वजाती!
व्रजपति का सा रूप सजाती,
नव-वय का उल्लास जगाती,
मधुराधर का रस बरसाती,
पुलकालिंगन में कस जाती।
आती री यह वेणु वजाती!

८ अक्तूबर, ३३ (इलाहाबाद)

मधुऋतु के पागल प्यार जलो
उपवन की कलियाँ कुम्हलाईं,
वल्लरियाँ पल पल अकुलाईं,
यौवन की सरसी अलसाई,
क्षिति तल की आभा सकुचाई;
मधुऋतु के छलिया प्यार जलो
आलिंगन में ले दुख-बंधन,
चुम्बन मे विष का आस्वादन,
नयनों में अवसाद-रुदन-कन
जीवन में ले तप्त तृषित मन;
मधुऋतु के पागल प्यार जलो

९ अक्तूबर, ३३ (इलाहाबाद)

ओ पावस की मेरी रात !
आज देखता हूँ मैं तुझमे है असीम उल्लास;
कामिनियों के कच लहराये,
मोरो के प्रिय पर फैलाये,
यौवन के मद मे इतराये,
दल पर दल बादल घिर आये;
अपनी मस्ती में इतराते,
झूम झूम झुक झुक ये जाते,
चूम चूम द्युति को, मँडराते,
ग्वाल-वाल सा रास रचाते;
फिर भी नही समाता नभ में तेरा मधु उल्लास।
ओ पावस की मेरी रात !

उन्मादित वारिद-माला से,
कल्लोलित घन-मधुशाला से,
मृदु रसाल का, चुम्बन का रस,
अंगूरो का यौवन का रस,
अधरों का पीयूष तरल नव,
जीवन के कन कन का आसव,

उमड़ उमड़ कर सरस रहा है,
खूब झमाझम बरस रहा है;
भीगी मिट्टी—मँहका कन-कन ज्यों महुए की बास।
ओ पावस की मेरी रात।

पुलकीं शत्-शत् रोमावलियाँ,
भीगीं मन-मधुवन की गलियाँ;
जागा प्राणों में, नव-स्पंदन,
उर में नव-वय का अलि-गुञ्जन,
वृन्दावन का नर्त्तन-कीर्त्तन,
व्रज-बालाओं का सम्मोहन;
सहज सरल मैं भूल गया तन,
फूल उठा जैसे रसाल बन;
पंचम-स्वर में तू कोयल-सी कुहकी मेरे पास।
ओ पावस की मेरी रात!

पी गुलाब-गुल्लाला-प्याली,
ले दिग्वधुएँ मद-मतवाली,
पीली सरसों हाथ लगाये,
ज्यों वसन्त के दिन फिर आये;
मधुरस मुग्धा ने छलकाया,
मृग-नयनों ने तीर चलाया;
विरहा चरवाहे ने गाया,
मन का पागल प्रेम बताया;
एक दूसरे को तूने दे दिया पुलक-निश्वास।
ओ पावस की मेरी रात!

तड़पी बिजली-भय लहराया,
मुख ने मोहक रूप छिपाया;
चीतकार कर उठा पपीहा
हृदय चीर कर पी ! हा ! पी ! हा !,
इसी करुण-स्वर में रो रो कर,
अपने आँसू से मुख धो कर,
जग ने मुझको दुखी बनाया,
पीड़ा को शाश्वत बतलाया;
विदा, विदा, ओ मधुर यामिनी तेरा आज प्रवास।
ओ पावस की मेरी रात!

६ अक्तूबर, ३३ (इलाहाबाद)

प्रिये ! मलिन है मेरा प्रात।

क्यों अवगुंठन नही हटातीं ?
मुख की अरुणा नही दिखातीं ?
उर की कलियाँ नही खिलातीं ?
खिल कर सुरभित नही बनातीं ?
प्रिये ! व्यथित है मेरा प्रात।

क्यों कलरव तुम नही सुनातीं ?
जीवन-तंत्री नहीं बजातीं ?
आँखों में आ नहीं समाती ?
उत्सुक-उन्मद नही बनाती ?
प्रिये ! मलिन है मेरा प्रात।

२ नवम्वर, ३३ (इलाहाबाद)

रजनी का प्रेमी है कौन ?
आश्चर्य-चकित तारक कहते ।
सुन्दरता का प्रेमी कौन ?
आश्चर्य-चकित मानव कहते ।
हम रजनी के प्रेमी मौन,
विगत-निशा-हत् तारक कहते !
हम सुन्दरता-प्रेमी मौन,
विगत-रूप-हत् मानव कहते !!

१ जनवरी, ३७

प्रिये ! मलिन है मेरा प्रात।

क्यों अवगुंठन नहीं हटाती ?
मुख की अरुणा नहीं दिखाती ?
उर की कलियाँ नहीं खिलाती ?
खिल कर सुरभित नही बनाती ?
प्रिये ! व्यथित है मेरा प्रात।

क्यों कलरव तुम नही सुनाती ?
जीवन-तंत्री नही बजाती ?
आँखों में आ नहीं समाती ?
उत्सुक-उन्मद नहीं बनाती ?
प्रिये ! मलिन है मेरा प्रात।

२ नवम्बर, ३३ (इलाहाबाद)

रजनी का प्रेमी है कौन ?
    आश्चर्य-चकित तारक कहते।
सुन्दरता का प्रेमी कौन ?
    आश्चर्य-चकित मानव कहते।
हम रजनी के प्रेमी मौन,
    विगत-निशा-हत् तारक कहते !
हम सुन्दरता-प्रेमी मौन,
    विगत-रूप-हत् मानव कहते !!

१ जनवरी, ३७

प्यारी ! तारों का आलोक
हर सकता है तम का शोक।
प्यारी ! अपना प्रेमालोक
हर सकता है जग का शोक।

१ जनवरी, ३७

मैं तकती हूँ नील गगन पर
घने घिरे घन घोर,
नव परिधान पहन कर मैं भी
होऊँ रूप-विभोर !

बार बार अब मैं सुनती हूँ
गुरु गर्जन गम्भीर !
प्रियतम ! प्रेम-मिलन को तुझ सी
मैं भी अधिक अधीर !

विद्युत की रेखाये छूतीं
दिशि-दिशि-तल की कोर !
तेरे पथ-सी मेरी आशा
आज अनंत अछोर !

सुन्दर केकी नाच उठे है,
अतुलित पुलक हुलास !
तू आया है अतिशय सुख ले
अब बसुधा के पास !

झर झर करती अब तो झरती
निरुपम मधुर फुहार !
तूने मेरा परिणय पाया,
मैंने तेरा प्यार !

१५ मार्च, ३७

मेरी रूप-कुसुम सुकुमार!
पावस के घन घिरे मनोरम
बरस रही जल-धार;
मैं हूँ मधुप तुम्हारा, प्यासा,
टूट रही जीवन की आशा;
आओ, तुम्हीं पिलाओ, अमृत
अधरों का अविकार;
मेरी रूप-कुसुम सुकुमार!

१६ मार्च, ३७

यह उजियाली रात आज सिंगार किए जो हँसती आई,
धवल चाँदनी जग में जिसकी कोमल सेज बिछाती, छाई;
जिसे देखते ही मैं रीझा, हुआ रूप का लोभी पागल,
गीत सुना कर, गा कर मोहा थाम लिया जिसका प्रिय आँचल;
सोई मेरे साथ, प्रेमिका हो कर मेरी सुख से सोई;
खुले वक्ष अंगों से जिसके मिल कर जीवन-सीमा खोई!
छोड़ चली अब मुझे वही हा! निराधार कर छोड़ चली अब;
केन-किनारे चट्टानों पर कोमल नाता तोड़ चली अब!
स्वयं चिह्न मेरे चुम्बन का लें कपोल पर चली गई वह।
मेरे हित कुछ ओस बूँद, उफ! ज्वाल जला कर चली गई वह!

१७ मार्च, ३७

उसके अंगों के छूने की
अब विद्युत दौड़ेगी इनमें
उसके ओठों के चुम्बन की
अब मदिरा उतरेगी इनमें
उसने मेरी सेज सजायी
सेज सजा कर संग सुलाया
संग सुला कर अंग मिलाया
ओठों को रस पान कराया।

१८ मार्च, ३७

ऊषा कंचन वक्ष दिखाओ
उसने विद्रुम वक्ष दिखाया
सौ-सौ सूरज साथ जलो तुम
उसने दीपित रूप दिखाया
भेंटो लहरों कस कर भेंटो
आलिंगन सुख मैंने पाया।
रात लौट आ! रात लौट आ!
अब तन ढँकने का क्षण आया॥

१६ मार्च, ३७

तीन फूल ये तीन फूल जो उस दिन मैंने पाये।
पथ पर पड़े विवश-से हत-से शोकाकुल बिसराये॥
तीन फूल ये जिनको मैंने जग की आँख बचाये।
लोक-लाज के भय से कंपित अतिशय शीघ्र उठाये॥

वस्त्रों के भीतर कौशल से जिनको पूर्ण छिपाये।
दौड़ा मैं तज कर कोलाहल तन मन प्राण भुलाये॥
आया निर्जन में जिनको ले पावन प्रेम दृढ़ाये।
पागल हूँ जिनको पाकर मैं प्राणों-सा अपनाये॥

तीन फूल ये तीन फूल जो उस दिन मैंने पाये।
कोमल पलकों ने झुक जिनके रजकन मलिन हटाये।
अन्तस्तल की मृदु कम्पन ने जिनमें प्राण पिन्हाये।
पंखुरियों के दल के दल सब मैंने राग-रँगाये॥

खिल कर, नयन-कमल ने मेरे रूप-विन्दु छलकाये।
ये जिनके अन्तर में सौरभ, मधु रस बन कर छाये॥
प्रेमी प्राण जिन्हें विकसित लख फूले नहीं समाये।
रस-लोभी मधुकर-से जिन पर गुनगुन कर मँडलाये॥

तीन फूल ये तीन फूल जो उस दिन मैंने पाये।
रामचन्द्र वन मानो मैंने सिय के कङ्कन पाये॥
तीन लोक बामन-से मानो उस दिन मैंने पाये।
तीन रूप ईश्वर के मानो उस दिन मन में आये॥

एक पुष्प उर्वर हृत्तल में प्रेम-सुधा बरसाये।
उद्भासित करता है विधि-सा भाव अमर अपनाये।।
पुष्प दूसरा प्रिय वरदायक हरि-सा रूप सजाये।
भाव अर्थ गम्भीर गिरा में भरता मधु उफनाये।।

पुष्प तीसरा हर-सा सन्तत योगी वृत्ति दृढ़ाये।
काम-वृत्ति को मर्दित करता तप की रज़ लिपटाये।।
गिरा उमा कमला के मानो चरण चूम थल आये।
सुख के सुन्दर समारोह में, तीन सुमन विकसाये।।

तीन फूल ये तीन फूल जो—एक अनिंद्य कुमारी।
खोंसे थी कुन्तल-प्रान्तर में—ऊषा-से छवि धारी।।
अङ्ग-अङ्ग के रूप-सिन्धु मे प्रेमानल प्रकटाते।
नव रस, नव रँग, नव सुगन्ध की लहरें थे उफनाते।।

केश देश के अन्ध-भाग में प्रेम-पुष्प में फूले।
तीन अमर नर के समान थे मृत्यु पाश में झूले।।
चमक रहे थे काल-मेरु पर लय उडु सम मन हारे।
लीन सत्य के चिर चिन्तन में अपलक नयन उघारे।।

प्रलय-सिन्धु में डूब चुके हों देश-प्राण घबराते।
तीन खण्ड सम महाकाव्य के फिर भी थे उतराते।।
अनायास खिंच गई, सुन्दरी युवती की भ्रू रेखा।
इन्हें शीश से हटते मैंने कर-पल्लव में देखा।।

तीन लोक के राजे आये जनक-प्राण-प्रण रखने।
मानों भ्रू-धनु खण्ड-खण्ड कर जनक-सुता को वरने।।
मानों हिमगिरि के अञ्चल में वर वसन्त-सुख छाया।
भ्रू-विलास, कर कामदेव ने हर पर तीर चलाया।।

एक बार तो कर में ले कर विधि ने इन्हें बनाया।
मेघ-मोहिनी श्याम लता के अञ्चल में दुलराया।।

एक बार तो प्रकृति-प्रिया को तज कर कर में आये ।
केश-देश के अन्ध-भाग में लय उड़ु सम मुसकाये ।।

एक बार फिर उस दिन कर में अनायास सुकुमारी ।
लिये, परखती थी सुन्दरता, किये रूप उजियारी ।।
मुख की परम अलौकिक आभा पखुरियों पर छाई ।
किन्तु प्रभा के विमल वर्ण पर कुछ न मलिनता आई ।।

अधरों ने इन पर प्रतिबिम्बित प्रेम-लालिमा पाई ।
किन्तु न उसमे भी पतझड़ की शोक-कालिमा आई ।।
आँखों ने पलको को खोले मृग-मद-सुरभि उड़ाई ।
किन्तु सौगुनी मादकता पुष्पों ने अधिक बढाई ।।

रूप-तुला पर तोला इनको नव-नव उपमानों से ।
किन्तु तोल में हलके ठहरे स्वप्नों-मुसकानों से ।।
इसी परीक्षा के अवसर पर प्रिय पुष्पों ने कुछ क्षण ।
पहले पहल किया युवती के चन्द्रानन का दर्शन ।।

दर्शन था युवती के मुख का या कि उषा का दर्शन ।
दिशिदिशि रूप-राग विकसित था; होता था मधु वर्षण ।।
या कि सुरँग-कल्पना-सिंधु में भाव-नाल पर शोभित ।
अनुपम रूपक उपमाओं की लहरों से आलोड़ित ।।

शतदल-कमल-हृदय कविवर का विलसित था अति कोमल ।
वाणी के पद-तल झरता था कविता का नव परिमल ।।
या कि प्रलय के तरल तार पर जीवात्मा का दर्पण ।
परमात्मा के अतुल रूप का करता था शुचि चित्रण ।।

९ अप्रैल, ३७

दूर देश प्राण चलो ! प्रियतम सुधि आई;
करभ-सदृश श्याम, मयद,
तड़ित-संग पंगु-पयद
गुरुवर गिर-शिखर गये पावस-सुधि आई;
दूर देश प्राण चलो ! प्रियतम सुधि आई !
बाँह खोल, भ्रू मरोर,
लाज छोड़, कर सु-रोर,
सरित-भरित त्वरित चलीं नीरधि-सुधि आई;
दूर देश प्राण चलो ! प्रियतम सुधि आई !
स्वेद, कम्प, पुलक, प्रीत
विजित वल्लरी विनीत
नवल मुकुल-भाल खोल दे रही विदाई;
दूर देश प्राण चलो ! प्रियतम सुधि आई !
एक एक छूट चले,
सकल पाश टूट चले;
अमल, धवल, फैल चली प्रेम की निकाई;
दूर देश प्राण चलो ! प्रियतम सुधि आई !

१० मई, ३७

परम सुन्दरि !

मिल गई;

निरुपम अचंचल झलक निरमल

जो न अब तक

स्वप्न में तक

मिल सकी पल भर ;

रहा मैं विचल विह्वल !

मिल गई !!

खुल गई;

खुल कर मृदुल तर पलक प्रतिपल

सीप-सी रह

जो न, दुख सह,

खुल सकी पल भर;

रहा मैं सुप्त, निष्फल !

खुल गई !!

भर गई ;

दृग-मोतियों में अमित मित स्मित

जो न निशिकर—

की किरन वर

भर सकी पल भर;

रहा मैं अंध अविदित !

भर गई !!

रूप-निर्झरि !

मिल गई निरुपम अचंचल झलक निरमल

मिल गई !!

८ अक्तूबर, ३७

आती हूँ तुझसे मिलने मैं,
तेरी सदा कहाने;
तेरी अगणित सुन्दरियों में
अपना नाम लिखाने !
मैं कुरूप हूँ, रूप-सिंधु में
कभी न विधु मुसकाया !
आ प्रभात के स्वर्णकार ने
कभी न रंग चढ़ाया।
कभी न मेरे पैर पड़े हैं
पृथ्वी से उठ ऊपर;
धूल चूमते फिरा किये हैं
गली-गली में जा कर !
जगह जगह थक कर बैठी हूँ
मैली मेरी धोती !
पानी पी-पी कई घरों का
घूमी रोती रोती !
राजा तेरी अन्य रानियाँ
तुझ पर खूब हँसेंगी;
तुझको मेरे साथ देख कर
मुझ पर कोप करेंगी !
मेले में फिर राजमहल के
रोयेंगी दुख सारे;

कर देंगी बदनाम हमें वे
इसी तरह से प्यारे !
रूठ न जाना इस झगड़े से,
मुझे न ठुकरा देना ;
सह लूंगी सब कुछ मैं उनकी,
सब तू भी सह लेना !
नहीं चाहिये मुझको उनके
रूप-रंग की काया ;
नहीं रँगीला चीर चाहिये,
आभूषण मन भाया !
जैसी हूँ वैसी अच्छी हूँ ;
यही रूप तो मेरा !
इसी सत्य के बल पर बच कर
देखूंगी मुख तेरा !
आती हूँ तुझसे मिलने मैं,
मुझसे नेह लगाना ;
मेरे राजा ! मेरे स्वामी !
मेरे भी बन जाना !!

११ नवम्बर, ३७

कठिन विरह की रात है !
शस्य श्याम कोमल वसुधा के हृत्प्रदेश पर
महाकार तम का विमूढ-मति निष्ठुर निश्चर
बैठा दृढतर, प्राणहर
करता विषमाघात है !!
कुटिल कृत्य यह देख गगन सहमा हताश है;
तारों का व्यापक-कुटुम्ब चुप है, निराश है,
खोई ज्योतित आश है !!
अतिशय दुख की बात है !
मृदुल पालकी कलियों की साधे हैं तरुगन,
जिस पर डाल ओहार खड़ा है हठी समीरण;
दुर्लभ दर्शन प्रेम-तन !!
आँसू की बरसात है !
मैं एकाकी, प्रियाहीन-जीवन-प्रसार है,
तन में, मन में, अन्धकार ही अन्धकार है;
आती नहीं पुकार है !
ओझल सुन्दर प्रात है !!

१२ दिसम्बर, ३७ (लखनऊ)

गीत किसी प्यारे ने गाया,
नीद चुराने तम में आया;
आँखें खुली, निहारता, बिन जाने पहचानता !!
गीत किसी प्यारे ने गाया,
प्रीत-परीक्षा लेने आया;
रूप हृदय में झांकता—मेरा सर्वस मांगता !!
गीत किसी प्यारे ने गाया,
प्रेमालिंगन को ललचाया;
भरी जवानी हारता—मीठे चुम्बन वारता !!
गीत किसी प्यारे ने गाया;
स्वर का बंदी मुझे बनाया !!

१८ दिसम्बर, ३७ (लखनऊ)

प्यारी ! मेरे जन्म-गाँव में,
जहाँ एक दिन, मेरे बाबा,
मुझको जन्मा देख, खुशी में
भीतर - बाहर दौड रहे थे;
मुझको पाकर सब भूले थे !
जहाँ, एक दिन मैं नादान
अम्मा की छाती से चिपका
पीता था बलदायक दूध !

जहाँ एक दिन
आस - पास के सभी घरो से,
गूँज उठाता चैन न पाता,
आसमान को छूता-छाता,
महावेग कल्लोल महान
भूल गया था अपनी राह !
डोम बुलाये, द्वारे आये,
शहनाई तासा सब लाये,
हवा रागिनी रस मे डूबी
मस्ती में सब बस्ती डूबी !!

प्यारी ! उसी लड़कपन वाले गाँव में—
जहाँ, चैत-वैसाख सवेरे से तपता है,

विकट घाम में, लूक-लपट में,
आँचर-डुला-चुलाती-छाँह में,
दौड़-दौड़ कर आती-पाती, गिल्ली-डंडा
गोली, खोखो, खेल हुड्डुवा,
ऊँचा—नीचा खेल चुका हूँ;
बेर बहुत छक कर खाये हैं;
हरे-हरे खेतों में जा कर,
मिट्टी के ढेलों पर बैठे,
तोड़ तोड़ कर साग चने का खूब उड़ाया;
इमली खाई—कैथे खाये,
अमियों को हरदम ललचाये !
प्रिये ! जहाँ पर मैंने देखी—
घटाटोप बादर के गहरे अंधकार से
बरखा की बौछार-धार धरती पर धँसती,
तीखे तीखे बानों से
बिरछों की छाती छिन्नती;
बेबोल बिचारी मिट्टी के—
ओठों से आह निकलती;
धार बाँध कर पहरों रोती
मैंने जहाँ ओरौती देखी !

प्यारी ! उसी पढ़ाई वाले गाँव में—
जहाँ मदरसे की खपरैलों की छाया में,
लम्बे लम्बे फटे पुराने टाट पर
पल्थी मारे बैठा बैठा ऊबता,
पोत-पोत कर करिखा से अपनी पाटी को
खूब चमाचम चमकाता था;

सतर-सतर में उज्जर-उज्जर
बड़े बड़े अच्छर लिखता था !
जहाँ, कभी मुर्गा बनता था;
कान-उमेठी भी खाता था;
गाल लाल थप्पड़ से हो कर झन्नाता था;
गादी मार सठैया की पा कल्लाती थी;
तरे झुकाये मूँड़ चाव से
खुटुर-खुटुर चुपचाप सरौता की सुनता था;
पिचका, तिरकोना मुँह पंडित जी का
भरा सुपारी से तकता था !
नोच बरौनी, मार एक मक्खी दोनों को
मैं रखता था घाम मे,
फिर देता था थूक वही पर,
दिन जाने को बार बार व्याकुल होता था !
कहता-कहता,
'आठ-पाँच-त्यारा, भय छुट्टी कै व्यारा'
भूत बना मैं,
काला-काला घर आता था !

प्यारी ! उसी रामलीला वाले गाँव में—
दो दो गैसे, जहाँ, दशहरे मे जलती थीं,
धनुष यज्ञ होता था, आते परशुराम थे,
जटा बढ़ाये-फरसा साधे,
आँखे लाल निकाले क्रोधी,
शंख बजाते, रोष दिखाते,
कूद कूद कर तखत तोड़ते,
राम-लखन को तड़प सुनाते,

लोगों पर कोड़े बरसाते;
छा जाता था सन्नाटा बस!
रो रो देते थे नर-नारी!
जहाँ, राम-रावण का होता युद्ध था,
छिद छिद कर तीरों से सोती सैन्य थी;
हाहाकार-प्रहार, दुष्ट-सहार घिरा था;
विरही राम मिले सीता से, जहाँ ललक कर,
प्रेम सिंधु में डूब गये सब लोग जहाँ के!!

प्यारी! उसी प्रेम-निमंत्रण वाले गाँव मे—
जहाँ, कुएँ की जगत पर,
मेरे घर के सामने
पानी भरने को आती थीं
गोरी साँवरि नारि अनेकों;
गोरी रूप-कमान-समान तने-तन वाली
प्रवल प्रेम की करती दृढ़ टंकार थीं,
साँवरि—विषय-वासिना-विष में बोरी
उलट-पुलट कर नागिन जैसी डस लेती थीं!
और, जहाँ मैं रात में,
सपने के संसार में,
बन्द घरों की ऊँची दीवारों पर चढ़ कर,
एक प्रेम की डोर पकड़ कर,
रोज रोज जाया करता था पास उन्हीं के,
दिन में जिन्हें कुमारी कहता और रात में प्रेमिका;
जिन्हें अकेला सोता पाकर
मैं बाहों में कस लेता था,
ओठों और कपोलों का चुम्बन लेता था;
अपना नाम कुचों पर जिनके

मीठे चुम्बन से लिखता था;
जिनकी छाती बड़े वेग से
धक्-धक् करने लग जाती थी!
सूरज की किरणों में जग कर
फिर मैं अचरज में रहता था!

प्यारी! उसी कमासिन गाँव में,
अपने प्यारे गाँव में,
नैनी से तुमको लाया हूँ!
हम दोनों का ब्याह हुआ है,
मैं पति हूँ—अब तुम पत्नी हो!
आज खुशी से पागल सागर
उमड-उमड़ कर मन के भीतर
जीवन की नदिया से मिलता,
जीवन की नदिया से कहता,
'मेरे आलिंगन मे आ कर,
मेरे अंग-अंग से मिल कर
अपनी सुधि-बुधि सब खो डालो,
फिर न अलग हो, गले लगा लो।'

ढोलक और मजीरा बजते,
मीठे गीत उमड़ते चलते,
उर में गूँज तुम्हारे करते
'खोलो घूंघट, बोलो वानी,
दूल्हा का मन तोलो रानी!
देखो प्यारी! वहाँ, जहाँ पर
ताल बड़ा सुन्दर लहराता,
ईंटों का है देवस्थान,

पीपल का है पेड़ महान,
वहीं एक चट्टान पड़ी है,
अंकित है उनमें दो मूर्ति—
नर है एक, एक नारी है!
दोनों नंगे सटे खड़े हैं,
दोनों की जांघे मिलती हैं;
दोनों की कटि एक हुई हैं,
दोनो की बाँहें जकड़ी हैं,
नर की दृढ़ छाती से दब कर
नारी का कुच तुरत दरकने वाला ही है,
बाहर आधा निकल रहा है;
ओंठ ओंठ को चूस रहे हैं;
आँखें बन्द निशा फैली है;
प्यारी! देखो यही मूर्तियाँ
सब नर नारी पूज रहे हैं,
प्रेमालिंगन सीख रहे हैं!
आओ हम तुम इन्हे पूज लें
प्रेमालिंगन यही सीख लें!
यही प्रेम—तीरथ है, प्यारी!
देव और मानव दोनों का!!

१ जनवरी, ३८ (लखनऊ)

प्राग राज में
आज जहाँ तुम
पिता गेह में
मुझको बिसरा
हर्ष मनातीं !
वहीं-वहीं मैंने गंगा को
सागर-मति को पाने जाती
आँखों देखा—
प्रेम-मोहिनी रूप सजे थी,
श्वेत उरोज उमंग भरे थी।
दूर दिशा से ही आती थी,
पागल दिल की व्याकुल कंपन,
गहनों की रुनझुन
कानों मे।

३ जनवरी, ३८

है न इतना गीत में रस
है न इतना काव्य मे रस
रूप में जितना तुम्हारे
प्राणप्यारी ! है भरा रस ।

धर्म फल फीका बहुत है;
कर्म फल फीका बहुत है;
फिर चखाओ प्राण प्यारी !
प्रेम फल मीठा बहुत है !

३१ दिसम्बर, ४०

ये दो प्राण ! पहाड़ी देखो; कितना है मधु-प्यार !
सदियों से अब तक करती है आलिंगन अभिसार !
निर्झर इसके, झरने उसके, गाते गाते गीत,
स्वर-सम्मेलन में हिलमिल कर, कर लेते हैं प्रीत !
प्यारी-प्यारी कलियाँ इसकी, उसके फूल किशोर
गंध-अंध हो अनिलांचल में, होते प्रेम-विभोर !
इसके खग, उसके खग—सबका प्यारा एक कुटुम्ब,
इन दो में ही पक्षी पाते अन्न, प्राण, अवलम्ब !
प्राण ! इन्हें मैं कैसे मानूं मूक पहाड़ी—दीन ?
ये तो कोई पूर्व-जन्म के प्रेमी हैं सुख-लीन !
युग-युग से ऊषा सुकुमारी खोल स्वर्ग का द्वार
इन्हीं प्रेमियों के स्वागत को आती बारम्बार !

१ जनवरी, ४१

क्या बताऊँ हाल अपना ! हो गया हूँ एक सपना !
नीद में भी प्राण प्यारी ! हो सकी जिसकी न रचना !!
मैं किसी भी स्थान जाऊँ, ध्यान लाऊँ या न लाऊँ !
आँख खोले आँख मूंदे ! मै तुम्हें सब ओर पाऊँ !!

२ जनवरी, ४१

ना है मधु-प्यार !
नगन अभिसार !
ये दो प्राण ! पहाड़ी देखो; कित| े गाते गीत,
सदियों से अब तक करती है अ| रर तेते ? प्रीत !
निर्झर इसके, झरने उसके, ग| के फल रिझोर
स्वर-सम्मेलन में हिलमिल कर, | ने प्रेम-विभोर !
प्यारी-प्यारी कलियाँ इसकी, उ| ग एक कुटुम्ब,
गंध-अंध हो अनिलांचल में, हो| राण अवलम्ब !
इसके खग, उसके खग—सबका प्य| पहाड़ी दीन ?
इन दो में ही पक्षी पाते अन्न, | है मुग्ध-लीन !
प्राण ! इन्हें मैं कैसे मानूं मूक| स्वर्ग का द्वार
ये तो कोई पूर्व-जन्म के प्रेमी | नी बारम्बार !
युग-युग से ऊषा सुकुमारी खोल
इन्ही प्रेमियों के स्वागत को अं

१ जनवरी, ४१

क्या बताऊँ हाल अपना ! हो गया हूँ एक सपना !
नीद में भी प्राण प्यारी ! हो सकी जिसकी न रचना !!
मै किसी भी स्थान जाऊँ; ध्यान लाऊँ या न लाऊँ !
आँख खोले आँख मूँदे ! मैं तुम्हे सब ओर पाऊँ !!

२ जनवरी, ४१

यौवन की पीड़ा है असहनीय !

व्याकुल है रत्नाकर उर अपार;
सुन्दर शशि धारे है अश्रुहार !
कंचन गिरि कम्पित है अति अशान्त।
केहरि अच्छृङ्खल हैं, गज मदान्ध !
तृष्णाकुल आकुल है अहि अधीर;
मर्दित है नारी का सब शरीर !!

वसनी वसन्ती है अदमनीय !
यौवन की पीड़ा है असहनीय !!

१६ फरवरी, ४३

चला समीर
आपाढ़ी संध्या का बादल
हुआ अधीर !

दूरागत मधु स्मृतियाँ तमकी
विद्युत धाराओं में चमकी
प्राण पपीहे की पुकार ने
मारा तीर !

प्रेम धार जीवन की बरसी
तृप्ति हुई आकुल उर सरसी
रही न आतप की संतापी
दारुण पीर!

चला समीर
आपाढ़ी संध्या का बादल
हुआ अधीर ।

२० अगस्त, ४४

यौवन की पीड़ा है असहनीय !
व्याकुल है रत्नाकर उर अपार;
सुन्दर शशि धारे है अश्रुहार !
कंचन गिरि कम्पित है अति अशान्त।
केहरि अच्छृङ्खल हैं, गज मदान्ध !
तृष्णाकुल आकुल है अहि अधीर;
मर्दित है नारी का सब शरीर !!
वसनी वसन्ती है अदमनीय !
यौवन की पीड़ा है असहनीय !!

१६ फरवरी, ४३

चला समीर
आषाढ़ी संध्या का बादल
हुआ अधीर !

दूरागत मधु स्मृतियाँ तमकीं
विद्युत धाराओं में चमकी
प्राण पपीहे की पुकार ने
मारा तीर !

प्रेम धार जीवन की बरसी
तृप्ति हुई आकुल उर सरसी
रही न आतप की संतापी
दारुण पीर !

चला समीर
आषाढ़ी संध्या का बादल
हुआ अधीर ।

२० अगस्त, ४४

तुम मुझे प्रिय भा गयी हो, याद अब आने लगी हो !
दूर से भी दूर होकर, पास अब आने लगी हो।
रोम में, तन में, हृदय में, वास कर गाने लगी हो ॥
चाँदनी के चारु चंचल, तार झनकाने लगी हो।
प्रान-पूरित प्यार की मनुहार बरसाने लगी हो ॥

तुम मुझे प्रिय भा गयी हो, याद अब आने लगी हो !
सात सागर तैरती हो, मेरु दरकाने लगी हो।
तेग की क्षुर धार पर चल, आग पर धाने लगी हो ॥
फूल-सी सुकुमार सुदर बाँह, फैलाने लगी हो।
मोहिनी बन मोहने को मोह दरसाने लगी हो ॥

तुम मुझे प्रिय भा गयी हो, याद अब आने लगी हो !
पास से भी पास होकर, पास अब आने लगी हो।
हाथ में ले हाथ मेरा, हाथ सहलाने लगी हो ॥
गात में ले गात मेरा, गात दुलराने लगी हो।
मैं तुम्हें प्रिय पा गया हूँ, तुम मुझे पाने लगी हो !!

६ जुलाई, ५१

मीठे मीठे प्यार की बहार है !
चाँदनी के आज रूप-रश्मि का सिंगार है।
फूली हर एक डाल फूल से अपार है॥
फूल में सुगंध है मरंद है निखार है।
फूल की सुगंध में वसंत का विहार है॥
मीठे मीठे प्यार की बहार है !
वायु आज वायु नहीं एक झनकार है।
जाने कौन दूर से बजा रहा सितार है॥
मोह रहा मेरा मन गीत का उभार है।
मेरा नहीं मुझ पर आज स्वाधिकार है॥
मीठे मीठे प्यार की बहार है !

६ अप्रैल, ५१

तुम मुझे प्रिय भा गयी हो, याद अव आने लगी हो !
दूर से भी दूर होकर, पास अव आने लगी हो।
रोम में, तन में, हृदय में, वास कर गाने लगी हो ।।
चाँदनी के चारु चंचल, तार झनकाने लगी हो।
प्रान-पूरित प्यार की मनुहार वरसाने लगी हो ।।

तुम मुझे प्रिय भा गयी हो, याद अव आने लगी हो !
सात सागर तैरती हो, मेरु दरकाने लगी हो।
तेग की क्षुर धार पर चल, आग पर धाने लगी हो ।।
फूल-सी सुकुमार सुंदर बाँह, फैलाने लगी हो।
मोहिनी बन मोहने को मोह दरसाने लगी हो ।।

तुम मुझे प्रिय भा गयी हो, याद अव आने लगी हो !
पास से भी पास होकर, पास अव आने लगी हो।
हाथ में ले हाथ मेरा, हाथ सहलाने लगी हो ।।
गात में ले गात मेरा, गात दुलराने लगी हो।
मै तुम्हें प्रिय पा गया हूँ, तुम मुझे पाने लगी हो !!

६ जुलाई, ५१

नही तुम निकट हो, नही तुम निकट हो
बहुत चाँदनी है, तो क्या है बताओ
अकेला हृदय है अँधेरा पड़ा है।

नही तुम निकट हो, नही तुम निकट हो
बहुत फुल्ल तरु है, तो क्या है बताओ
महा वृक्ष मेरा अकेला खड़ा है।

२६ नवम्बर, ५२

प्राणमयी मुसकान तुम्हारी,
जब कूलों को पार करेगी।
दीन दुखी मेरे जीवन में,
तव विद्रोही ज्वार भरेगी॥

ज्वालमयी मुसकान तुम्हारी,
जब शोषण को क्षार करेगी।
पर पीड़ित मेरे जीवन में,
तव आशा-उद्गार भरेगी॥

फूलमयी मुसकान तुम्हारी,
जब शूलों को प्यार करेगी।
धूल भरे मेरे जीवन में,
तव मधुमय रसधार भरेगी॥

प्राणमयी मुसकान तुम्हारी,
जब युग की गुंजार करेगी।
ध्वस्त हुए मेरे जीवन में,
नव वैभव शत वार भरेगी॥

३० नवम्बर, ५२

नही तुम निकट हो, नही तुम निकट हो
बहुत चाँदनी है, तो क्या है बताओ
अकेला हृदय है अँधेरा पड़ा है।

नही तुम निकट हो, नही तुम निकट हो
बहुत फुल्ल तरु हैं, तो क्या है बताओ
महा वृक्ष मेरा अकेला खड़ा है।

२६ नवम्बर, ५२

प्राणमयी मुसकान तुम्हारी,
जब कूलों को पार करेगी।
दीन दुखी मेरे जीवन में,
तब विद्रोही ज्वार भरेगी॥

ज्वालमयी मुसकान तुम्हारी,
जब शोषण को क्षार करेगी।
पर पीड़ित मेरे जीवन में,
तब आशा-उद्गार भरेगी॥

फूलमयी मुसकान तुम्हारी,
जब शूलों को प्यार करेगी।
धूल भरे मेरे जीवन में,
तब मधुमय रसधार भरेगी॥

प्राणमयी मुसकान तुम्हारी,
जब युग की गुंजार करेगी।
ध्वस्त हुए मेरे जीवन में,
नव वैभव शत वार भरेगी॥

३० नवम्बर, ५२

पथ चूम लिया मैंने रज का,
पाषाण-शिलाओं पर दौड़ी,
मैं लाल लजीली स्वर्ण-किरण
वृक्षों के तन से जा लिपटी।

वे पेड़ बड़े संन्यासी हैं,
निस्तब्ध खड़े तप करते हैं
लेकिन मेरे भुज-बंधन में
वे आत्म-समर्पण करते हैं

९ फरवरी, ५३

जब नाचे बिजलिया बादल में,
बरजोरी हृदय के आँचल मे
तब तुम आना—तब तुम आना।

जब बोले पपिहरा कानन मे,
अनुरागी हृदय के आँगन में
तब तुम आना—तब तुम आना।

४ मई, ५३ (बाँदा)

दिया मैंने जलाया पिया प्यार का,
सोने के तार का।
आँखों से हँसते सिंगार का,
मोती के हार का!
मोती के हार का है दीपक यह प्यार का!!

दिया मैंने जलाया पिया प्यार का,
फूलों के द्वार का।
यौवन के उपवन-विहार का,
चुम्बन-प्रहार का!
चुम्बन-प्रहार का है दीपक यह प्यार का!!

दिया मैंने जलाया पिया प्यार का,
शारद फुहार का।
आसव-सुवासित दुलार का,
नेहाभिसार का!
नेहाभिसार का है दीपक यह प्यार का!!

१६ जुलाई ५३ (बाँदा)

जब सेमल् का पेड़ अकेला
बाट जोह कर थक जाता है
तब बेचारे का हर पत्ता
आहत होकर झर जाता है
आह ! नहीं तुम आ पाती हो
सेमल को अपना पाती हो !

६ फरवरी, ५३

जवानी का झूला अकेले न झूलो।
मुझे साथ ले लो दुकेले में झूलो॥
हवा हरहराये, छुये, गुदगुदाये,
लहर की तरह हर पहर गुन गुनाये,
हवा के तराने अकेले न पीलो।
मुझे साथ ले लो दुकेले में पीलो॥
जवानी का झूला अकेले न झूलो।
मुझे साथ ले लो दुकेले में झूलो॥

७ जुलाई, ५३ (बाँदा)

मैंने एक डाल छुई।
फूलों से लाल हुई ।।
उसने आलिगन मे ।।
बाँध लिया उपवन में ।।

उसने मुझे प्यार किया।
मैंने उसे प्यार किया ।।
दोनों दुख भूल गये।
झूले में झूल गये ।।

कोयल ने गान किया।
हमने मधु पान किया ।।
फूलों की ज्वाल में।
यौवन की ताल में ।।

६ जुलाई, ५३ (बाँदा)

फूले है फूल,

और गाती है कामिनी !

यमुना को चूमती है

पूनम की चाँदनी !!

आसव में डूबी है,

यौवन की यामिनी !

आँखों से हँसती है जैसे किरातिनी !!

१२ जुलाई, ५३

आँख से उठाओ और बाँह से
सँवार दो
अतरंग मेरा रूप-रंग से
निखार दो
साँस में समाओ और शक्ति से
उबार लो
बार बार चूमो और बार बार
प्यार दो

२ फरवरी, ५४

मेरे प्रान !
मारो बान ।
मैं भी खड़ा छाती तान,
पूरा करो स्वाभिमान,
मेरा हरो रुद्र-ज्ञान,
मैं भी करूँ प्रेम पान,
तुम भी करो प्रेम पान
मेरे प्रान !
मारो बान ।

१० अक्टूबर, ५४

छूटता है गेह गोरी जा रही है
वेदना अब आँसुओं से गा रही है
कंठ से उमडी हृदय पर छा रही है
मायके की याद मन भरमा रही है
छूटता है मेरु, गंगा जा रही है
पत्थरों का भी हृदय पिघला रही है
पादपों को भेटती अकुला रही है
गीत मिलनातुर विकल अब गा रही है

१० अक्तूबर, ५४

दूर मुझसे हो न जाना
भूल से तुम खो न जाना
अन्यथा खोजा करूँगा
मेरु से
मरु से
मही से
नाव से
नद से
नदी से
सिंधु से पूछा करूँगा
पेड़ से
पथ से
गली से
वायु से
वन से
कली से
धूल से पूछा करूँगा
गाँव की गोरी कहाँ है ?
भाव की भोरी कहाँ है ?

रूप-रस घोरी कहाँ है?
फूल-सी छोरी कहाँ है?
और मैं रोता रहूँगा,
अश्रु-कन बोता रहूँगा!

२६ अक्टूबर, ५४

तुम्हीं तो आती हो
बाल खोल जूड़े के;
कंधों पर रात को
मेरे पास लाती हो;
जैसी तुम मेरी हो!
वैसी रात मेरी है!!

११ सितम्बर, ५५

नयन में कमल मुसकुराने लगा है
अधर में भ्रमर गुनगुनाने लगा है
कि तुम पास आओ,
अधिक पास आओ
हृदय अब हृदय को बुलाने लगा है !

प्रकृति में प्रणय रसमसाने लगा है
प्रणय में समर्पण समाने लगा है
कि तुम पास आओ,
अधिक पास आओ
पवन अब प्रमद डगमगाने लगा है !

१४ अक्टूबर, ५५

हाथ से
उस दिन तुम्हारे जो गिरा,
भाग्य जब उसका फिरा,
राह पर
जो चुप पड़ा ही रह गया,
वह नहीं मैं
खो गया रूमाल हूँ !

मैं, बिछुड़ कर भी,
कभी बिछुड़ा नहीं;
भाग्य तो मेरा कभी बिगड़ा नहीं;
मैं अधर में,
आँख में,
उर में जिया;
मैं
तुम्हारे रूप का भूचाल हूँ !

२ मार्च, ५६

बंधन में भी है मुझको—
निर्बन्ध बनाता प्रेम तुम्हारा
किशलय-अंगों के आलिंगन
में बहती है मधु की धारा
ज्यों ही उर से उर मिलता है
ढह जाता है क्षुब्ध किनारा
सीमा में भी है मुझको—
निस्सीम बनाता प्रेम तुम्हारा

द्वन्द्वों में भी है मुझको—
निर्द्वन्द्व बनाता प्रेम तुम्हारा
काँटों पर चलने का मुझको
होता है उत्साह दुबारा
तोड़ चुका हूँ, फिर तोड़ूँगा
एक नहीं, मैं सौ-सौ कारा
कष्टों में भी है मुझको—
कर्मण्य बनाता प्रेम तुम्हारा

६ मार्च, ५६

गुलाबी गालों वाली नारि!
न बैठो पल भर मेरे पास
कि मुझको डर है तुमसे आज
हृदय का तोड़ोगी विश्वास

शराबी आँखों वाली नारि!
न हेरो पलभर मेरी ओर
कि मुझको डर है तुमसे आज
हृदय को बेधेगी दृग-कोर

नशीले केशों वाली नारि!
न खोलो पल भर कुंचित केश
कि मुझको डर है उनसे आज
हृदय को डस लेंगे उरगेश

रसीले ओठों वाली नारि!
न बोलो मधु में साने बैन
कि मुझको डर है उनसे आज
हृदय का हर लेंगे सुख-चैन

वसन्ती बाहों वाली नारि!
न डालो फूलों का गलहार
कि मुझको डर है तुमसे आज
हृदय को कर दोगी लाचार

२५ अप्रैल, ५६

हवा पहन कर तुम चलती हो
इसीलिये यह हवा देह से जब लगती है
मुझे तुम्हारा ही आलिंगन मिल जाता है
और मुझे यह सूना वन भी
बडा रुचिर मालूम होता है

अतः चलो तुम
हवा पहन कर रोज चलो तुम
तरु गन झूमें,
लहरें आकर तट को चूमें
मैं भी झूमूं
तुमको चूमूं

१९ जुलाई, ५६

वह मुसकान तुम्हारी है—
जो अतिशय मुझको प्यारी है
मुझको छोड़ नही अब उसका कोई भी अधिकारी है
मेरी है वह, मैने उस पर
सब तन्मयता वारी है
उसके कारन अब तो मुझसे सारी विपदा हारी है

१२ अगस्त, ५६

बीना बिना तार के न बीना है
तार-कसी बीना ही प्रवीना है
तार बिना बीना मूल्य हीना है
बीना बिना बोल बनी दीना है

बीना बिना प्यार के न बीना है
प्यार पिये बीना ही प्रवीना है
प्यार बिना बीना प्रानहीना है
बीना बिना प्यार बनी दीना है

२१ अगस्त, ५६

बाग की बहार लिये,
बेला के फूलों का हार लिये,
गीत का सितार और प्यार लिये,
वायु चली झूमती सिंगार किये !

अंग में अनंग लिये,
रंग-रूप-राग की तरंग लिये,
चन्द्रमा-चकोर-चाव संग लिये,
वायु चली प्रेम का प्रसंग लिये !

खोल दो सुकेश प्रिये !
अंधकार देश का प्रदेश प्रिये !
मुक्त हो समीर का प्रवेश प्रिये !
अंग मिलें अंग से विशेष प्रिये !!

२१ अगस्त, ५६

रूप दो कि रूप की सुरा पिऊँ!
रूप मे रमा मदांध मैं जिऊँ!!
ज्ञान में नहीं रहूँ,
न शोक में रहूँ,
ज्ञान-शोक-शून्य--
प्रेम-लोक में रहूँ!
प्रेम दो कि प्रेम की सुरा पिऊँ!
प्रेम में पगा प्रमत्त मैं जिऊँ!!

२१ अगस्त, ५६

अव मिले अधिकार मुझको
पूर्णिमा-सा प्यार मुझको
दूर से मै पास आऊँ—
तुम्हें पाऊँ
आँख में, उर में, समाऊँ
तुम करो स्वीकार मुझको
मैं करूँ स्वीकार तुमको

अव मिले मनुहार मुझको
वाहुवद्ध वहार मुझको
मैं समय को भूल जाऊँ
गीत गाऊँ
चाँदनी वरसे, नहाऊँ
तुम वनो रसधार मुझको
मैं वनूँ रसधार तुमको

२५ अगस्त, ५६

किरन गोद में लिये खड़ी है वत्स शिशिर को,
जो उसके ही तरुण अंग का अरुण अंग है,
जो उसके सुरधाम-सिधारे—
पति महेश की प्रमुदित छवि है,
जो उसके सस्मित शैशव की,
प्रेम-प्रणय की मदिर महक है,
जो अब उसके पंकिल जीवन का पंकज है!

ऐसा लगा कि जैसे अपनी धूमिल धरती,
पूनम के शशि को लेकर है चमचम चमकी,
और उसे मैं देख रहा हूँ आँखें खोले
ऐसे जैसे देख रहा हूँ जगदम्बा को—
अंक लिये अविकल अविनाशी वर ब्रह्मा को!

भूल गया मैं कटु जीवन के चुभते काँटे,
भूल गया मैं दूभर दिन के दुखते काँटे,
भूल गया मैं नील-नदी सम बहते
भूल गया मैं [illegible] दहते

गोधूली की यह वेला है,
पशु-पक्षी सब लौट रहे हैं अब अपने घर,
पूछ रहा हूँ मैं अब मन से :
लौट सकेंगे क्या महेश भी इसी तरह घर ?
भेंट सकेंगे क्या महेश भी प्रिया किरन को ?
चूम सकेंगे क्या महेश भी वत्स शिशिर को ?

किन्तु नही मिलता है उत्तर मुझको मन से,
अस्तु आज मैं बहुत विकल हूँ,
शिशिर-किरन के लिए व्यथित हूँ,
सम्मुख आती हुई रात से भय-कम्पित हूँ,
अस्तु आज मैं किरन-शिशिर को
घबराहट में—पास पहुँच कर—चूम रहा हूँ,
और अँधेरा हर लेने को,
अपनी आत्मा के प्रदीप को जला रहा हूँ,

२४ अक्टूबर, ५६

हो सकता है तुम्हें हमारी याद न आये
हमसे ज्यादा तुम्हें दूसरा कोई भाये
वह तुमको हमसे भी मीठे गीत सुनाये
गीतों की लहरों का बदी तुम्हें बनाये
किन्तु नहीं यह हो सकता है मन मुरझाये
मेरे गीतों का रस मन से ही रिस जाये
अन्य किसी के गीतों में वह नही समाये
और तुम्हें वह बारम्बार नही हरसाये

२० दिसम्बर, ५६

प्यार है विहगों में—
बार बार जीने का,
बार बार रंग, रूप, नेह नीर पीने का,
बार बार पक्षी का—
नया जन्म पाने का;
बार बार गाने का—नीड़ के बनाने का।
प्यार है मनुष्यों में—
बार बार जीने का,
बार बार राग, रूप, गंध, धूप पीने का,
बार-बार पृथ्वी में—
नया जन्म पाने का,
बार बार गाने का—गेह के बसाने का।

१५ जुलाई, ५७

पुष्पों-से प्रस्फुटित अंग की निरावरण रति-रमणी,
आलिंगन-आवद्ध सिंधु-सी, मुखर वक्ष, विस्तारित नयना,
ऊर्ध्वमुखी रोमांचित वदना, चन्द्रोदय में
मेरे हिम-आवृत सत्ता के ऐन्द्रिक तन को
रसभीने चुम्बन देती है तप्त तप्त पर्याप्त सहस्रों !

इतनी मायामयी विवसना विपुल वासना,
मुझे समाहित किये पूर्ण कर रही कामना;
मैं जीता हूँ और जिऊँगा इसी तरह से
यही स्वर्ग है मेरा अपना, और स्वर्ग मैं नही चाहता ।

दूर गगन के अरे सितारो ! मुझे न टेरो,
नभ-गंगा मे नही नहाने की इच्छा है,
नही तुम्हारे दीप चूमने की इच्छा है,
नही तुम्हारे स्वप्न माँगने की इच्छा है !

तुम शशि-स्वामी ! इसी तरह से रहो चमकते,
रात तुम्हारी और हमारी लम्बी होवे,
तुम्हें बुलाती है गिरि-माला उसको भेंटो,
तुम्हें बुलाती हैं सरिताएँ उनको चूमो,

तुम्हें बुलाती है सुमनावलि रस ले पी लो,
अभी न पीले पड़ना, अभी न झुक कर गिरना,
पल को कल्प बनाते रहना, इसी स्वर्ग में हमको रखना।

तुम रवि-राजा ! उदयाचल पर अभी न आना,
तुम्हें दिवस प्यारा है लेकिन मेरी रात मुझे प्यारी है,
पौ फटने पर रक्त बहेगा,
आलिंगन-आबद्ध स्वर्ग फिर ढह जायेगा !

मेरे लोगो ! मुझे न खोजो,
यहाँ वहाँ तुम जहाँ जिधर हो वहाँ रहो तुम,
आँखे मूँद वहीं सो जाओ,
मेरी रजनी मुझे मुबारक और तुम्हारी रजनी तुमको

विपुल वासना की यह भाषा, अजर अमर हो मेरी भाषा !

२ अक्तूबर, ५७

उड़ने को उड़ी और उड़ कर फिर आ गयी,
व्योम में समा कर, वह धूप में हवा में घुल आ गयी,
प्यार से कबूतर के पास बैठ पखने सहला गयी,
देह और आत्मा की भूख को मिटा गयी,
भूतल में भूतल की रीति को निभा गयी!

५ अक्तूबर, ५७

तरुओं की शीतल छाया में, सुमनावलि की मधु-माया में
वह सामीप्य तुम्हारा तो है, जो मैंने उस सुख में पाया ।
कुश-कंटक के बीहड़ वन में, घन-गर्जन पावक-वर्षण में
वह विश्वास तुम्हारा तो है, जो मैंने उस दुख में पाया ।।

६ अक्तूबर, ४७

सुआपंखी घाम पहने पेड़ वन के,
मोर नाचे तले जिनके;
गीत गाते विहग जिनके;
और झूले में झुलाते हमें-तुमको,
फूल देते,
और फल की भेंट देते,
वे अनूठे पेड़ सूखें नहीं वन के;
अमर हों जैसे अमर कवि सूर-तुलसी !

१४ जून, ५८

हे मेरी तुम !
उड़ते जाते हुए मेघ को
आओ रोकें—
मैं गाऊँ—तुम—नाचो
नृत्य और संगीत—
मुग्ध करता है सबको
चाहे जो हो !

२२ जून, ५८

हे मेरी तुम !
उड़ते जाते हुए मेघ को
आओ रोकें—
मैं गाऊँ—तुम—नाचो
नृत्य और संगीत—
मुग्ध करता है सबको
चाहे जो हो !

२२ जून, ५८

हे मेरी तुम !
वह समीर—
जो तुमसे हरदम हिला-मिला था,
आह ! तुम्हें हरदम छूता था
—*वन फूलों की पखुरियों से*—
बिना हिचक के;
और तुम्हे चंचल करता था
—जल के जैसा—
मेरी बाहों मे आने को—भर जाने को;
हाय ! तुम्हारे बिना दुखी है,
अवचेतन है और मलिन है।
क्या तुम, फिर से आ कर, उसको
चेतन, चंचल, सुखी करोगी ?

२३ जून, ५८

टहल जाओ इस तरह मेरे हृदय पर
टहल जाये धूप जैसे चम्पई, सुकमार
जब अँधेरा हो रहा हो तार-तार
और वह मैदान जिस पर धूप टहले
हो रहा हो फूल-से गुलज़ार!
आह! मेरी प्रार्थना का ज्वार
तुम करो स्वीकार!

२६ जून, ५८

हे मेरी तुम !
यह नीला-सा फूल तोड़ कर
मुझको दे दो
ताकि इसे मैं
बरसाऊ बादल को पहले
भेंट चढ़ाऊँ;
फिर वह बरसें,
और तुम्हें नहलाये,
अंग तुम्हारे झलकें।

बादल को प्यारा लगता है
मिट्टी का यह नीला फूल।
मुझको भी प्यारा लगता है
अंचल का यह गीला फूल ॥

२६ जून, ५८

केवड़े मे डूबी
और चाँदनी में ठंडी हुई
आयी हवा कमरे में
बावली-सी,
और मुझे, पहरों तक,
अंक से लगाये रही,
जैसे वह मेरी—मैं उसका हूँ !

१० जुलाई, ५८

क्या नहीं कुछ हो गया
जब याद आयी
और परदे फड़फड़ाये;
फ्रेम में तसवीर निकली,
और शीशा मुस्कुराया।
वाह! फिर तो फूल बरसे,
और मैं तुमसे मिला!
क्या नहीं कुछ हो गया
जब तुम मिली!

१३ जुलाई, ५८

हे मेरी तुम
पंख फुलाये हुए कबूतर और कबुतरी
खुली धूप में बड़े प्यार से दाने चुगते,
और गुटरगूँ करते-मिलते-रसियाते है !
इन्हें देख कर मुझे देखना,
मुझे देख कर इन्हें देखना,
फिर मेरी बाहों में आ कर
मुझे भेंटना
अब क्या यह तुम भूल गयी हो ?

हे मेरी तुम !
वह देखो, लो बिल्ली आई,
उड़े कबूतर और कबुतरी,
मैं बैठा हूँ खिन्न अकेला !

२६ नवम्बर, ५८

रेत मैं हूँ—जमुन-जल तुम !
मुझे तुमने
  हृदय तल से ढँक लिया है
और अपना कर लिया है
अब मुझे क्या रात—क्या दिन
क्या प्रलय—क्या पुनर्जीवन !

रेत मैं हूँ—जमुन-जल तुम !
मुझे तुमने
  सरस रस से कर दिया है
छाप दुख-दव हर लिया है
अब मुझे क्या शोक—क्या दुख
मिल रहा है सुख—महासुख !

२८ नवम्बर, ५८

तुम मुझे कुछ न दो
न अपनी उँगलियों के स्पर्श की वर्तुल लहरियाँ
न अपनी आँखों की चुम्बकीय बिजलियाँ
न अपने कंधों पर की झुकी हुई मदांध सुगंधित रातें
न अपने उरोजों के उठे हुए कसे आश्वस्त कूल
न अपने गालों के गुलाबी प्रभात
न अपने ओठों के ललित लालिम चुम्बन
न अपने नितम्बों का चरणों तक बहता हुआ महोल्लास
न अपने फूल-झरते बोल
न अपना हिमानी मौन
लेकिन तुम मुझे दो
मेरा धैर्य—मेरा हीरा
जिसे तुमने अखंडित लिया
और खंडित किया;
जिसे तुमने आभूषणों में जड़ाया
और यौवन का उत्सव मनाया,
अन्यथा असम्भव है मेरा जीना
बिना धैर्य—बिना हीरा !

१४ नवम्बर, ५६

तुम्हारे उरोजों का सोना
कठोर ही नहीं
दूध की धार से भरा
कोमल भी है।
कठोरता कोमलता का कवच है
तुम जानती हो न ?

१५ नवम्बर, ५६

मैं रणोद्यत हुआ
माथे पर लेकर तुम्हारा चुम्बन;
झिझका नहीं—न अड़ा
बराबर लड़ा
घमासान संघर्ष में पड़ा;

हाथ हारे—पाँव हारे
मैं न हारा,
माथ में चुम्बन लिये जीता रहा।

१५ नवम्बर, ५८

शिशिर में जब दूर का चाँद तक ठिठुर कर
ठण्डा हो जाता है,
पास की चाँदनी तक सिकुड़ कर
तुषार से ठोस हो जाती है,
और वायु का दूत तक गल कर शरीर से
सुन्न हो जाता है,
तब भी तुम्हारे अंग-प्रत्यंग में
ग्रीष्म की ऋतु ही रहती है,
रूप का चाँद सम्पूर्ण सुन्दर सविलास
हँसता ही रहता है,
यौवन का उद्दाम अकूल
महासिन्धु लहराता ही रहता है,
कठोर कुचों पर रत्नहार के नक्षत्र
टिमकते ही रहते हैं,
और मैं अंगों की ग्रीष्म ऋतु में
विहार करता ही रहता हूँ!

१७ नवम्बर, ५९

फिर निकला है चाँद दूज का
फिर आयी है याद तुम्हारी
फिर फैली है बाँह हमारी
जैसे, चाँद नहीं वह तुम हो।

५ दिसम्बर, ५८

कई दिन हो गये तुम्हें गये
चुम्बन दिये—मुझे छोड़ कर गये
पहले दिन वह चुम्बन रहा तुम्हारा चुम्बन
गुलाब की पंखुरी की तरह मेरे ओठ से चिपका
रक्ताभ-सुगधित-नशीला।

दूसरे दिन वह चुम्बन न रहा तुम्हारा चुम्बन
झर ही तो गया मेरे ओठ से वह चुम्बन
गुलाब की पंखुरी की तरह जमीन पर
काँपता कराहता वियोगी!

तीसरे दिन वह चुम्बन न रहा तुम्हारा चुम्बन
कुचल ही तो गया मेरे पाँव से वह चुम्बन
गुलाब की पंखुरी की तरह जमीन पर पड़ा
मौन, पराजित, पीला,

चौथे दिन वह चुम्बन न रहा तुम्हारा चुम्बन
न रही गुलाब की वह पंखुरी
बच रही बस उसकी एक धूल भरी आह और याद

पाँचवें दिन से अब फिर तुम्हें खोजता हूँ
फिर एक चुम्बन चाहता हूँ तुम्हारा
अपने ओठ पर रक्ताभ, सुगंधित, नशीला
गुलाब की पंखुरी की तरह चिपका

न झरे जो न काँपे—न कुचले
न कभी आह बने—न याद

२४ फरवरी, ६०

प्राण में जो मेरा बहुत मेरा है

शब्दातीत—अर्थातीत मेरा है

प्रेयसी ! वह तेरा बहुत तेरा है

न काल का, न दिक् का वहाँ घेरा है

५ अक्तूबर, ६०

अंधी रात का तुम्हारा तन :
दाहिने हाथ की उठी हथेली;
नग्न कच्चे कुचों—
कटि के मध्य देश--
लौह की जाँघों से
आन्तरिक अरुणोदय की झलक मारता है
ओ चित्र में अंकित युवती !
तुम सुन्दर हो !
मौन खड़ी भी तुम विद्रोही शक्ति हो !

९ अक्तूबर, ६०

अमृता शेरगिल के चित्र को देख कर

छिप कर भी
न छिप पायी हो तुम
भावों में,
खुली हो तुम
आज
जैसे खुली आँख
स्वप्न से भरी
चाँदनी के दर्पण में
कोई देखे
    न देखे।

मौन भी
    न मौन हो तुम
वसंत
    मुखर हो तुम
आज
जैसे मुखर संगीत
फूल के ओठों में
कोई सुने
न सुने।

२० अक्तूबर, ६०

घुमड कर घिर आये है
घन गगन में,
मोर नाचते
पंख खोल कर वन में
तुम भी तो हो
नाचो मेरे मन में

२१ अक्तूबर, ६०

न जाने कितने
प्रवाल पंखुरियों के सरोज, संपुट खोले,
अग्निम प्रकाश के चेतन आकाश से,
क्षण-पर-क्षण मिटते
मुग्ध मदिराक्ष देखते हैं हमको :
हमारे पर्वतांग वृषभों को :
हमारी वनचारिणी नदियों की गायों को :
हमारी नवयौवना नैसर्गिक हरीतिमा को :
हमारी शाश्वत शोभनीया शारदीय ग्राम्या को :
और हम देखते है उन्हें,
उनके सौन्दर्य पर रीझे।
वे है कि मिट-मिट कर भी समाये रहते है
और मिटते नही मिटाए, हमारी आँखों से,
जैसे— राग से रंजित, रस से भरे
खुले-के-खुले, तुम्हारे उरोज है जैसे
एक दूसरे से सटे !

९ फरवरी, ६१

न जाने कितने
प्रवाल पंखुरियों के सरोज, संपुट खोले,
अग्निम प्रकाश के चेतन आकाश से,
क्षण-पर-क्षण मिटते
मुग्ध मदिराक्ष देखते हैं हमको :
हमारे पर्वतांग वृषभों को :
हमारी वनचारिणी नदियों की गायों को :
हमारी नवयौवना नैसर्गिक हरीतिमा को :
हमारी शाश्वत शोभनीया शारदीय ग्राम्या को :
और हम देखते है उन्हें,
उनके सौन्दर्य पर रीझे।
वे है कि मिट-मिट कर भी समाये रहते है
और मिटते नहीं मिटाए, हमारी आंखों से,
जैसे— राग से रंजित, रस से भरे
खुले-के-खुले, तुम्हारे उरोज है जैसे
एक दूसरे से सटे !

९ फरवरी, ६१



यद्यपि मेरे मृण्मय घर में
चिन्मय दीप जला
हिम हेमन्त गला
फिर भी घर सूना-सूना है
तुम बिन मन ऊना ऊना है।

२५ नवम्बर, ६१

कठोर हैं तुम्हारे कुचों के
मौन मंजीर,
ओ पिकासो की पुत्रियो !

सुडौल हैं तुम्हारे नितम्ब के
दोनों कूल,
ओ पिकासो की पुत्रियो !

निर्भीक हैं
चरणों तक गयीं
कदली—खम्भों-सी प्रवाहित
कुमारीत्व की दोनों
नदियाँ,
ओ पिकासो की पुत्रियो !

२२ अक्तूबर, ६२

सब कुछ है
मगर कुछ नहीं है
जब तुम नहीं हो
मेरे पास

फूले खेत
हंसता चाँद
झरते मेघ
मन है बहुत उदास

अपनी देह
अपना गेह
मन का देश
सब कुछ हुआ विदेश

२४ सितम्बर, ६५

तुम एक
सदेह सौंदर्य का समारोह हो
मेरे मंच पर बज रहे है अब
तुम्हारे अंग-प्रत्यंग
जैसे वाद्य यंत्र

१४ अक्तूबर, ६५

तुम जो एक प्याला गरम चाय हो
जिसे मै हूँ चूमता अपने ओठ से
किसी होटल में बैठा थका ऊबा
तमाम लोगो के बीच
मुझे बहुत अच्छी लगती है
तुम्हारी मिठास
जहाँ मुझे कुछ भी नही लगता अच्छा
किसी भी तरफ से
कि मै किसी के बाग का वसन्त देखूँ
जो पीला
सिर्फ़ पीला पतझर है—

३१ अक्तूबर, ६७

मैं हूँ
उसका गुलाव
उसके लिए
उसके केश में खुँसा
और है,
वह
मेरे गुलाव की मेरी खुशी

१२ अक्तूबर, ७०

रंगे ओठ के
रक्तपात मे,
उठी छातियाँ
हृदय वेधतीं
कमर-समर के बलाघात से,
चमक-चमक उठती है
बिजली,
कला-कुशल करती कटाक्ष
अभिनय विलास से ।

३ फ़रवरी, ७५

केश-पाश में बसे

वासना-विषयी बेला महके,

गंध-गंध हो गये अनंगी अंग रात भर गमके;

रत्नहार-चंचला चमकती

आलिंगन में विगलित,

केलि-कला में पगी

पुरुष को देती तृप्ति अपरिमित ।

६ मई, ७६

सांध्य-समय की ये प्रौढ़ाएँ,
ढले और ढीले अंगों को
नव उभार दे,
बीते यौवन की बहार के
रम्य रूप से
फिर अनुरंजित कर शरीर को,
वसन और भूषण से भास्वर,
पथ पर चलती,
गंध-गमक की तरह गमकतीं,
आँखों में आँजे
कटाक्ष-काजल की लीला;
वशीभूत करती हैं जन-मन,
मंत्र-मार मोहक मनोज का
तिलक लगाये
वर्तमान के तर्क-जाल का जूड़ा बाँधे,
पुष्पमाल की छवि से आँके।

२३ जून, ७६

किताब पढ़ती है एक औरत
किताब पर
झुके - झुके
शब्दार्थ पकड़ती है औरत
और
गिरफ्त हुए शब्दार्थ में
खुद भी गिरफ्तार होती है
गिरफ्त में आई औरत
मुझे बहुत सुन्दर लगती है
बाहों में जैसे आयी हुई
जिन्दगी हसीन लगती है

२८ अगस्त, ७६

इसी खूबसूरत धरती के
मानव-कुल की
अनगिन सुमुखि सुताओं में से
परम सुंदरी सुमुखि सुता हो
तुम भी एक

इसी खूबसूरत धरती ने
मानव-मन की काम्य कला से
रूप तुम्हारा और निखारा
देह यष्टि की कुसुम-राशि को
देख रहा
अपलक
जग हारा

३० सितम्बर, ७६

अनुक्रम



□□□

